

No-057544

B. 9

Lo-43.14



# श्रमणा

श्रमणा-  
एक मास  
वंश



न व व र्ष—वि शे षां क

नवम्बर—दिसम्बर १९६६

## पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जै ना श्र म

हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

सम्पादक  
डा० मोहनलाल मेहता  
सह-सम्पादक  
पं० कपिलदेव गिरि

प्रस्तुत अंक में—

१.	माता की ममता जीत गई—श्री पारसमल 'प्रसून'	१
२.	अपभ्रंश की शोध-कहानी—डा० देवेन्द्रकुमार	३
३.	राक्षस : एक मानव वंश —डा० के० रिषभचन्द्र	८
४.	भारतीय विद्याविद् डा० ज्ञान ज्याज्ज बूह्लर—श्री कस्तूरमल बांठिया	१३
५.	थुल्ल वंश की एक अपूर्ण प्रशस्ति—श्री भँवरलाल नाहटा	२१
६.	सेवा : एक विश्लेषण—श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री	२६
७.	अहिंसा की साधना—श्री गोपीचन्द्र घाड़ीवाल	४३
८.	आचारांग के कुछ महत्त्वपूर्ण शब्द—साध्वी श्री कनकप्रभा	६१
९.	जैनधर्म और व्यावसायिक पूंजीवाद : वेबर की अनुदृष्टि —श्री कृष्णलाल शर्मा	६५
१०.	अहिंसा : एक विश्लेषण—श्री बशिष्ठनारायण सिन्हा	७३
११.	क्या लोंकाशाह विद्वान् नहीं थे ?—श्री नन्दलाल मारू	७८
१२.	अपनी बात—	८०
१३.	साहित्य-सत्कार	८४
१४.	विविध विज्ञापन	९०

वार्षिक  
पाँच रुपये

एक प्रति  
पचास पैसे

प्रस्तुत अंक—दो रुपये



जैनविद्या का मासिक

वर्ष १८

नवम्बर-दिसम्बर १९६६

अंक १-२

## माता की ममता जीतगई

भीषण ग्रीष्म के परीषह ने मुनि को पीड़ित कर दिया। सुकोमल शरीर ने कब ऐसी विकट गर्मी सहई थी।

और फिर मोहिनी का मादक आकर्षण था। अंततः स्वतन्त्र कुरंग विलासिता के जाल में फँस ही गया। पतन का मार्ग कितना सहज है। कलका योगी आज भोगी है।

पर साधक की माता अपने धवल दूध की यह कालिमा कैसे सहन करे? वह बन गई पगली। दौड़ी-दौड़ी फिरती है पुर, ग्राम, नगर में अपने प्यारे लाल को खोजने। उसकी एक ही आवाज, एक ही रट कि—

“कहाँ हो मेरे अरणक, प्यारे अरणक। तुम कहाँ हो? “अरणक,” “बेटा अरणक”। माँ की करुणामिश्रित हृदयस्पर्शी आवाज अब विलासी अरणक को शृंगार-कक्ष में न रोक सकी। कामिनी के सब अस्त्र-शस्त्र अब कुंठित-लुंठित थे।

पतित अरणक की आत्मा में उत्थान की अग्नि भभक उठी। वह तत्क्षण दौड़ा-दौड़ा आया और माता के चरणों को पश्चात्ताप के गर्म आँसुओं से गीला करने लगा।

माता निहाल थी अपने खोये लाल को पाकर। पर साधक को अपने पतन का पश्चात्ताप करना था।

गर्मी के परीषह ने ही तो यह सब किया था। अतः तत्क्षण पास ही तपती शिला पर जाकर खुले बदन जो वे लेटे तो लेटे ही रहे। और शिला की अग्नि से भी अधिक प्रज्वलित पश्चात्ताप, ग्लानि की अग्नि में उनके सारे कर्म भस्मीभूत हो गये। वे अब शुद्ध, बुद्ध अधिकारी बन गये।

मोहिनी निद्रा से जगकर-सँभलकर वे बाद में उत्थान मंजिल पर पहुँच गये। वीर अरणक ! तुम्हारे पतन के बाद का पुनः यह जानदार उत्थान कितना शानदार है।

हम इस पर लाख-लाख बार न्यौच्छावर हैं।

पारसमल 'प्रसून'

# अपभ्रंश की शोध-कहानी

डा० देवेन्द्रकुमार

अपभ्रंशभाषा की शोध-कहानी के मुख्य दो अध्याय हैं। एक प्राचीन और दूसरा आधुनिक। पहले अध्याय में अपभ्रंश का विचार प्राकृतभाषा के संदर्भ में हुआ, और दूसरे में एक स्वतंत्र परिवेश में। प्राकृतों के संदर्भ में विचार करते हुए भी, अपभ्रंश का स्वतंत्र अस्तित्व जिन वैयाकरणों ने स्वीकार किया, वे कुल दो हैं : आचार्य हेमचन्द्र और त्रिविक्रम। मौलिकता के विचार से हेमचन्द्र अकेले हैं, क्योंकि त्रिविक्रम का व्याकरण हेमचन्द्र के शब्दानुशासन के अनुकरण पर लिखा गया है।

प्राकृतों के संदर्भ में अपभ्रंश का विश्लेषण क्यों किया जाता रहा ? इसके दो उत्तर हैं। एक तो भाषा का विचार, परंपरागत भाषा के संदर्भ में ही किया जा सकता था। दूसरे संस्कृत में एक व्याकरणिक मानदंड बन चुका था किसी नई भाषा का विवेचन करते समय, इसकी उपेक्षा संभव नहीं थी। अतः संस्कृत के संदर्भ में प्राकृत की, और प्राकृत के संदर्भ में अपभ्रंश की आलोचना—एक स्वीकृत प्रक्रिया बन गई थी। प्राकृत वैयाकरणों में सबसे प्राचीन हैं वररुचि, जो प्राकृत वैयाकरणों के दोनों सम्प्रदायों को प्रभावित करते हैं। ग्रियर्सन प्राकृतों के दो भेद स्वीकारने के पक्ष में हैं, पश्चिमी प्राकृत और पूर्वी प्राकृत। इसी प्रादेशिकता के आधार पर वह मानता है कि वररुचि, मार्कण्डेय, पुरुषोत्तम तर्कवागीश पूर्वी सम्प्रदाय के वैयाकरण हैं, जब कि चण्ड, हेमचन्द्र, त्रिविक्रम और श्रुतसागर पश्चिमी सम्प्रदाय के। पश्चिमी सम्प्रदाय 'महाराष्ट्री प्राकृत' को सबसे प्रमुख प्राकृत मानता है, शेष हैं शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका और अपभ्रंश। हेमचन्द्र के अनुसार 'आर्यप्राकृत' जैन धर्मग्रंथों में प्रयुक्त भाषा है। ऐतिहासिक संदर्भ में प्राकृत वैयाकरणों का क्रम होगा वररुचि (प्राकृत प्रकाश), चंड (प्राकृत-लक्षण), हेमचन्द्र (सिद्धहेम शब्दानुशासन), त्रिविक्रम (प्राकृत व्याकरण), सिहराज (प्राकृत-रूपावतार), रघुनाथ शर्मन् (प्राकृतानंद), लक्ष्मीधर (षड्भाषा चन्द्रिका), मार्कण्डेय (प्राकृत-सर्वस्व), रामचन्द्र तर्कवागीश (प्राकृत कल्पतरु), नरसिंह (प्राकृत शब्द-दीपिका), अप्पय दीक्षित (प्राकृत मणिदीप), समन्तभद्र (प्राकृत व्याकरण)।

विषय समान होने से, यह स्वाभाविक है कि इन वैयाकरणों के विवेचनों में बहुत कुछ समानता हो और कभी-कभी उनके विचार एक-दूसरे के विरुद्ध भी हों। ये वैयाकरण, वैकल्पिक प्रयोगों का उल्लेख सबसे अधिक करते हैं, विभाषाओं के सम्बंध में भी इनके विचारों में काफी असमानता है, हो सकता है इसमें आर्यभाषा में रही परिवर्तनशीलता का प्रभाव हो। भरत मुनि के अनुसार, कुछ स्थानीय प्राकृत को छोड़कर आदि-मध्य-संयुक्तव्यञ्जन में 'न' 'ण' में बदलता है, परन्तु हेमचन्द्र कहते हैं कि नकारादि शब्द देशीभाषा में असंभव हैं (देश्यामसंभवा इति न निबद्धाः, यच्च वादौ (१-२२९) इति सूत्रितमस्माभिः, तत्संस्कृतभवं, प्राकृतशब्दापेक्षया, न देशीशब्दापेक्षया इति सर्वमवदातम्)। त्रिविक्रम, हेमचन्द्र के इस नियम को नहीं मानते, वह धात्वादेश में 'णिरुप्पई' की जगह 'निरुप्पई' स्वीकारने के पक्ष में हैं। इस प्रकार वह 'न' बनाए रहने के पक्ष में हैं। दोनों के इस मतभेद का कारण 'न' के स्थानीय उच्चारण की भिन्नता रही होगी।

प्राचीन वैयाकरण दो आधारों पर भाषाओं का विभाजन करते हैं : ऐतिहासिक और प्रादेशिक। परन्तु विभाजन का एक आधार और हो सकता है वह है व्यावहारिक। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में इसका संकेत है। मार्कण्डेय इसी आधार पर प्राकृतों का भेद करता है—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची। विभाषा में वह शकारी, चण्डाली, शाबरी, आभीरी आदि २७ भाषाएँ गिनाता है। अपभ्रंश के वह ३ भेद करता है—नागर, वाचड् और उपनागर। आभीरी, कभी बोली अवश्य थी, पर उस समय नहीं जिस समय मार्कण्डेय ने अपना व्याकरण लिखा। फिर भी यह बात अवश्य है कि साहित्य-शास्त्रियों ने अपभ्रंश को एक स्वतंत्रभाषा बहुत पहले मान लिया था, परन्तु धीरे-धीरे वैयाकरणों ने भी इसे अपनी स्वीकृति दे दी।

प्राकृत वैयाकरणों के सम्मुख एक समस्या यह थी कि वे प्राकृत का विचार संस्कृत व्याकरण के माध्यम से करने के लिए विवश थे, और 'संस्कृतं प्रकृतिः ततः आगतं प्राकृतम्' को मान कर चलते थे। संस्कृतं प्रकृतिः का लाक्षणिक अर्थ होगा कि संस्कृत अर्थात् भारतीय आर्य भाषा की प्रकृति एक है, उनके नाम और धातु शब्दों में बहुत कम अंतर है, अन्तर यही कुछ में ये शब्द ग्राह्य हैं और कुछ में नहीं। इस प्रकार प्रकृति सबकी एक है, फिर भी संस्कृत और प्राकृतों में जो भेद है वह, प्रकृति का नहीं प्रत्ययों यानी व्याकरण का भेद है। हेमचन्द्र का इस संबंध में यह स्पष्टीकरण है :

“संस्कृतानन्तरं प्राकृतं—अधिक्रियते । संस्कृतानन्तरं प्राकृतस्यानुशासनं सिद्धसाध्यमानभेदसंस्कृतयोर्नेरेव तस्य लक्षणम् न देशस्य—इति ज्ञापनार्थम्” । आचार्य हेमचन्द्र का यह कथन उनकी मौलिक पकड़ का उदाहरण है । वह स्वीकार लेते हैं कि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का विचार केवल उन्हीं सिद्धसाध्यमान शब्दों तक सीमित है जो संस्कृतमूलक हैं; दूसरे शब्दों में, उन्हीं शब्दों का विचार है जो संस्कृत के माध्यम से आए हैं । देशज शब्दों का नहीं । यह ठीक भी है क्योंकि भारतीय भाषाओं का उनकी रचनाप्रक्रिया के संदर्भ में विचार बहुत कम हुआ । इस प्रकार अपभ्रंश की खोजकथा का प्राचीन और प्रामाणिक संदर्भ यदि कोई है तो वह है हेमचन्द्र का ‘सिद्धहेम-शब्दानुशासन’ । ‘त्रिविक्रम’ का व्याकरण भी एक सन्दर्भ है, परन्तु वह हेमचन्द्र की ही लीक पर चलता है ।

यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि आधुनिक युग में अपभ्रंश की खोजकथा का प्रारंभसूत्र भी हेमचन्द्र ही हैं । ईस्वी १७८४ में एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के बाद यूरोप के मनीषी भारतीय प्राचीन विद्याओं के प्रति आकृष्ट हुए और संस्कृत के सन्दर्भ में प्राकृत और प्राकृत के सन्दर्भ में अपभ्रंश का पता लगा । १८७७ में सिद्धहेमशब्दानुशासन का संपादन करते हुए, जर्मन पंडित रिचर्ड्स पिशल को अपभ्रंश की जानकारी मिली । १९०२ में कुछ बिखरी हुई सामग्री के आधार पर उसने अपभ्रंश रचनाओं पर एक लेख लिखा । उन्होंने अपभ्रंश नाम की भाषा का परिचय तो दिया, परन्तु एक भाषा के रूप में उसके अस्तित्व के संबंध में उन्हें सन्देह था ।

दूसरी भूमिका पर आगे अपभ्रंशशोध की कथा दो धाराओं में बँटती है । एक धारा है विदेशी पंडितों की—जिनमें हैं हरमन जैकोबी, लुडविग, अल्सफोर्ड । १९१४ में जैकोबी को अपनी भारतयात्रा में अहमदाबाद में एक जैन साधु से ‘भविसयत्त कहा’ मिली, जिसे उन्होंने म्युनिख एकेडेमी से प्रकाशित किया । उसके बाद ‘सनतकुमार चरिउ’ का भी उन्होंने संपादन किया । १९३६ में अल्सफोर्ड ने

१ पिशल के अपभ्रंश विषयक लेख में हेमचन्द्र, सरस्वती कंठाभरण, विक्रमोर्वशीय, पिंगल छंदसूत्र, प्राकृत पैगल, ध्वन्यालोक, वेताल पंच-विंशति, शुकसप्तति, सिंहासन द्वात्रिंशिका और प्रबंध चिन्तामणि में उपलब्ध अपभ्रंश अवतरणों का विचार है । इसके पूर्व १९०२ में चन्द्रमोहन घोषाल पैगलम् का संपादन कर चुके थे । १९१२ में देवकरण मूलचन्द्र ने हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन का संपादन किया था ।

‘हरिवंशपुराण’ शीर्षक से पुष्पदंत के महापुराण का एक स्व-संपादित ग्रंथ प्रकाशित किया। इसमें ८१ से ९२ तक की संधियाँ थीं। दूसरी धारा में आते हैं भारतीय पंडित जो लगभग १९१४ से प्रारंभ होती है। १९१४ में ही बड़ौदा नरेश सर सयाजी गायकवाड़ के आदेश पर चमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटन के जैन भंडारों की खोज अपने हाथ में ली और भविसयत्त कहा का संपादन भी अपने हाथ में लिया परन्तु अचानक निधन के कारण, डा० पांडुरंग गुणे ने उसे पूरा किया जो १९२३ में प्रकाश में आ सकी।

इसके पूर्व १९१६ में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित ‘बौद्ध गान और दोहा’ प्रकाशित हुआ। १९२५ में डा० हीरालाल जैन एम० ए०, डी० लिट् ने ‘अपभ्रंश’ शीर्षक लेख में बहुत-सी अपभ्रंश रचनाओं की सूचना दी। उन्होंने ‘मध्यप्रदेश और बरार’ में उपलब्ध अपभ्रंश पुस्तकों की एक सूची “कंटलाग आफ् संस्कृत एंड प्राकृत मैनुस्क्रिप्टस् इन दी सी० पी० एंड बरार’ में दी। उन्हींके प्रयास से १९३१ में ‘कारंजा सिरिज’ ग्रंथमाला की स्थापना हुई, इसमें अपभ्रंश के कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। अपभ्रंश रचनाओं के संपादन के लिए डा० पी० एल० वैद्य का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। डा० वैद्य बम्बई विश्वविद्यालय के प्राकृत में शोधकर्ता थे, अपभ्रंश ग्रंथों के प्रति डा० जैन ने उन्हें आकृष्ट किया। १९३७ में डा० ए० एन० उपाध्ये ने परमात्मप्रकाश और योगसार का संपादन किया। सिद्धों के दोहों के दो संस्करण प्रकाशित हुए। एक पेरिस से १९२८ में डा० शहादुल्ला के सम्पादन में, दूसरा डा० प्रबोधचन्द्र के सम्पादन में १९३८ में कलकत्ता से। स्वर्गीय राहुल सांकृत्यायन ने पुरातत्त्व निबंधावली में तिब्बती संदर्भ से सिद्धों की रचनाओं का विचार किया था (१९३७)। पूना में भांडारकर-संस्थान की स्थापना के प्रसंग में मुनि जिनविजय भी अपभ्रंश-साहित्य के परिचय में आए, उन्होंने पुष्पदन्त और रहमान की रचनाओं का पता लगाया। १९२३ में श्री नाथूराम प्रेमी ने ‘जैन-साहित्य संशोधक’ में पुष्पदन्त के परिचय में एक लेख प्रकाशित किया।<sup>१</sup> डा० हीरालाल ने अपभ्रंश-साहित्य की खोज के सिलसिले में जयपुर के भंडारों को छाना। १९४८ में डा० भायाणी ने कवि धाहिल के ‘पउमसिरी चरिउ’ का भी संपादन किया और उसके बाद स्वयंभू के ‘पउमचरिउ’ का। १९५० के आसपास कस्तूरचन्द्र कासलीवाल ने जय-

<sup>१</sup> अलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज भाग १

<sup>२</sup> डा० तगारे ने अपभ्रंशभाषा पर अपना शोधग्रंथ लिखा।



पुर और आमेर के जैनभंडारों की सूची प्रस्तुत की जिसमें अपभ्रंश-रचनाओं का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त डा० वेलंकर ने स्वयंभूच्छंद और डा० बाबूराम सक्सेना ने विद्यापति की 'कीर्तिलता' का संपादन किया।

अभीतक अपभ्रंश की शोधदिशा प्रायः अपभ्रंश तक सीमित रही। हिन्दी भाषा और साहित्य के संदर्भ में सबसे पहले अपभ्रंश का विचार किया स्व० पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक पुस्तक में। इस सन्दर्भ में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम भी उल्लेख्य है, यद्यपि अपभ्रंश के संबंध में उनकी जानकारी परोक्षसूत्रों पर आधारित रही है, फिर भी उन्होंने इस साहित्य के अध्ययन के पक्ष में काफी कुछ बलदिया है, आदिकाल पुस्तक में (जो उनके तीन व्याख्यानों पर आधारित है) उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में अपभ्रंश रचनाओं का उल्लेख किया है। अपभ्रंश की खोजकथा अधूरी समझी जायगी यदि मैं स्व० आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का नाम न लूँ। मिश्र जी अपभ्रंश भाषा के जीवितकोश थे, उन्होंने उदाहरण देकर सिद्ध किया था कि अपभ्रंश लोकभाषा रही थी। यह लेखक उन्हीं के अध्यापन से इस भाषा की ओर आकृष्ट हुआ था। अपभ्रंश के विषय में उनका ज्ञान अपूर्व था, यद्यपि उन्होंने उसे शब्दों में बाँधने का प्रयास कभी नहीं किया।

अपभ्रंश की शोध कहानी की तीसरी भूमिका वह है जिसमें भाषा के साथ अपभ्रंश साहित्य का विश्लेषण प्रारंभ होता है। डा० हरबंश कोछड़ का 'अपभ्रंश-साहित्य', डा० राम सिंह तोमर का 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य' और इस लेखक का 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', इसी दिशा में विभिन्न समयों के ऐसे विभिन्न प्रयास हैं जो अपना अलग कोण रखते हैं। इसी अन्तराल में दो उल्लेनीय शोधप्रबंध और लिखे गए। एक 'महाकवि पुष्पदन्त पर' (डा० राजकुमार शास्त्री), और दूसरा 'भविष्यत्कहा पर' (डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री)। मेरे विचार में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी—अपभ्रंश की शोधकथा की उपलब्धियाँ अभी पर्याप्त नहीं हैं। जिस ऐतिहासिक सन्दर्भ में यह साहित्य लिखा गया और जिन अपने उत्तरवर्ती साहित्यों को यह प्रभावित कर सका, उसके परिप्रेक्ष्य में भाषा और विधागत सम्पूर्णतम वैज्ञानिक विश्लेषण का कार्य अभीतक प्रतीक्षित है, और यह एक व्यक्ति का नहीं, एक कोण का नहीं, वरन् योजनाबद्ध शोध द्वारा ही संभव है।

## राक्षस : एक मानव वंश

डा० के० रिषभचन्द्र

जैन साहित्यिक परंपरा समान रूप से यह बतलाती आयी है कि जिस प्रकार विद्याधर एक मानव जाति थी उसी प्रकार राक्षस भी भारतवर्ष की एक आदिम मानव जाति थी। विद्याधरों के आपसी झगड़े के कारण एक विद्याधर राजा ने अपने वेणुड्ड (विजयाद्वंद्व अथवा विन्ध्य पर्वतमाला का प्रदेश) राज्य को छोड़ दिया और दक्षिण में राक्षसद्वीप (लंका) पर अपना अलग राज्य स्थापित किया। तब से उस राजा के वंशज राक्षस लोग कहलाये। जैन साहित्य की भिन्न-भिन्न कृतियों में इस वंश की उत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है।

पुत्रचरित्त के अनुसार उत्तरी विजयाद्वंद्व के गगनवल्लभपुर के विद्याधर राजा सहस्रनयन ने अपनी बहिन के विवाह सम्बन्धी विषय को लेकर दक्षिणी विजयाद्वंद्व के रथनूपुर के विद्याधर राजा मेघवाहन (घनवाहन) पर आक्रमण कर दिया। त्रस्त मेघवाहन ने तब तीर्थंकर अजितनाथ की शरण ली (५६४-७७)। उस समय राक्षस देवों के स्वामी भीम ने (रवखसवइणा भीमेणं ५१२३-१३२) मेघवाहन को लंकापुरी का प्रथम राजा बनाया। लंकापुरी राक्षसद्वीप के मध्य में स्थित थी।

वसुदेवहिण्डी (पृ० २४०) के अनुसार रावण विद्याधर वंश में सहस्रगीव के कुल में उत्पन्न हुआ था। अपने भाइयों के साथ कलह हो जाने के कारण रावण ने लंकाद्वीप में अपना अलग राज्य स्थापित किया था।

गुणसेन के उत्तरपुराण (६८.८-९) के अनुसार विद्याधर सहस्रगीव जो विद्याधर वृत्तिका की परंपरा में ही हुआ था, अपने भतीजों के द्वारा सताये जाने पर दक्षिण विजयाद्वंद्व को छोड़कर लंकापुर को भाग गया और वहाँ पर अपना अलग राज्य स्थापित किया। पुष्पदंत के महापुराण (७०.२) में भी यही वर्णन है।

पुत्रचरित्त आगे बतलाता है कि राक्षस लोग आदि में तो विद्याधर लोग ही थे परन्तु उनसे अलग हो जाने के बाद राक्षसद्वीप की रक्षा करते थे अतः

वे राक्षस कहलाये। न तो वे देव थे और न ही अर्द्धदेव (४३:१४)। अन्य स्थल पर यह भी कहा गया है कि मेघवाहन की ही कुल-परंपरा में आगे एक राक्षस नाम का राजा हुआ और उसके वंशज राक्षस कहलाये (तस्स य नामेण इमो, रक्खसवंसो जयम्मि विक्खाओ—५:२५१-२५२)।

अब हम ब्राह्मण साहित्य में देखें कि उसकी राक्षसों की उत्पत्ति के बारे में क्या परंपरा है। वाल्मीकि रामायण में कहा गया है कि जब प्रजापति ने संसार की रचना के पूर्व पानी की उत्पत्ति की तो इसके साथ अनेक प्राणियों की भी उत्पत्ति की। उन प्राणियों ने भूख और तृषा से संतप्त होकर प्रजापति से पूछा कि हम क्या करें। प्रजापति ने उत्तर दिया कि तुम पानी की रक्षा करो। तब उनमें से जिन्होंने कहा कि हम रक्षा करते हैं वे राक्षस कहलाये (रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षास्ते भवन्तु वः ७:४:१३)। विष्णुपुराण के अनुसार वे ब्रह्मा को ही खाने को दौड़े तो उनमें से कुछ ने कहा कि ऐसा मत करो, ब्रह्मा की रक्षा करो। जिन्होंने ऐसा कहा वे लोग राक्षस कहलाये (विष्णुपुराण-१:५४३, भागवतपुराण-३:२०:२१)। वाल्मीकि रामायण के अनुसार हेति और प्रहेति राक्षसों के प्रथम राजा थे (७:४:१४)। हेति की कुल परंपरा में माल्यवान्, सुमाली और माली को उनकी तपश्चर्या के कारण विश्वकर्मा ने लंकानगरी का राज्य दिया (७:५:२५)। इसी परंपरा में रावण भी पैदा हुआ था।

राक्षस लोग खेचर (आकाशगामी) भी कहलाये क्योंकि उनको एक विशेष विद्या प्राप्त थी जिससे वे आकाश में उड़ान भर सकते थे (पउमचरियं ५:२५७)। वाल्मीकि रामायण के अनुसार भगवान् शिव ने इन राक्षसों को 'पुरमाकाशगम्' अथवा 'खगंपुरम्' (७:४:३२) प्रदान किया था जिससे वे आकाश के रास्ते जा सकते थे। उनकी लंकापुरी को खेपुरी भी कहा गया है (६:३८:१०)।

इस तरह हम देखते हैं कि दोनों परम्पराओं में उनका राक्षस कहलाने का कारण यह था कि वे समुद्री द्वीपों की रक्षा करते थे। आकाशगमन करने के कारण वे खेचर के नाम से विख्यात हुए। लंकापुरी में उनका प्रथम राज्य

<sup>1</sup> देखिये, पद्मचरितम्—रविषेण ५:७६-९३, १४९-१६५, ३७८-३८६ और ४३:३८; पउमचरिउ—स्वयंभू ५:६-८; ६:१; त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित—हेमचन्द्र (अंग्रेजी अनुवाद) जिप ४:५०:००; जि २, पृ० १५८, १६५।

स्थापित हुआ। तथा वे भारत के बहुत प्राचीन लोग थे। दोनों परम्पराओं ने अपने-अपने प्रतिष्ठित किसी न किसी पूर्व पुरुष के साथ इनकी उत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ा है। इन परम्पराओं में कितना काल्पनिक तत्त्व है तथा कितना सत्य है यह तो कहा नहीं जा सकता, परन्तु इतना तो प्रमाणित होता है कि राक्षस जाति भारत की एक आदिम जाति थी और प्रचलित कथाओं के अनुसार ब्राह्मण व जैनों ने उनको अपनी-अपनी परम्परा में स्थान दिया है। हालाँकि उनके बाद के इतिहास और राज्यों के बारे में दोनों परम्पराओं में काफी अन्तर मालूम होता है।

अब हम अन्य विद्वानों के विचारों के साथ इन लोगों का अध्ययन करेंगे। श्री गस्टव ओपर्ट (Gustav Oppert) का कहना है कि राक्षस लोग भारत के आदिम निवासी थे<sup>१</sup>। प्रोफेसर रेप्सन (Rapson) लिखते हैं कि ऋग्वेदकाल में ही राक्षस लोग भारत के निवासियों की तरह प्रसिद्ध थे<sup>२</sup>। श्री सी. वी. वैद्य का कहना है कि रावण के मामा के वंश में जो शालकटंकटा का नाम वाल्मीकि रामायण में आता है इससे यह मालूम होता है कि राम के प्रादुर्भाव के पहले लंका में इस नाम की एक आदिम जाति रहती थी<sup>३</sup>। परन्तु जैन परम्परा बतलाती है कि वे उत्तर से दक्षिण की तरफ गये थे। डा० वा. श. अग्रवाल का विश्वास है कि राक्षस लोग उत्तर-पच्छिमी समुदाय के लोग थे और उनकी जातीय विशेषता (Racial character) पिशाचों की तरह थी। भारत के युद्ध में रक्ष, नाग और पिशाच लोग दोनों तरफ लड़ते हुए पाये जाते हैं। वे आगे लिखते हैं कि उत्तरी बलूचिस्तान में छगई (Chagai) जिले में एक 'रक्षणि' नाम की जाति बसी हुई है<sup>४</sup>। वाल्मीकि रामायण में भी यह बतलाया गया है कि राक्षस लोगों की तीन शाखाएँ थीं। एक विराध की जो दण्डकारण्य के उत्तरी भाग पर छापी हुई थी। दूसरी कबन्ध की जो दानव कहलाते थे। तीसरी राक्षसों अथवा रक्षों की जिनका लंका पर अधिकार था। तात्पर्य यह कि दक्षिण भारत का अधिक से अधिक भाग उनके अधिकार में था। जैन परम्परा के अनुसार भी उनका साम्राज्य दक्षिण

<sup>१</sup> The Original Inhabitants of India. P. 524.

<sup>२</sup> Cambridge History of India, I. P. 94 (1955).

<sup>३</sup> The Riddle of the Ramayana. PP. 99-100

<sup>४</sup> India as Known to Panini, P. 448.

भारत पर खास तौर से व्याप्त था। रावण के पूर्वजों का जो वर्णन आता है उससे प्रतीत होता है कि उन्हें अनेक राजनैतिक उतार-चढ़ावों में होकर गुजरना पड़ा था। रावण ने अपनी दिग्विजय से सारे भारत पर अधिकार करने की चेष्टा की थी। मथुरा में तो उनका प्रभाव होने का साफ जाहिर है क्योंकि मथुरा का राजा रावण का जमाई था (१२. ८)। वाल्मीकि रामायण के अनुसार ताडक और मारीच का पूर्वी भारत पर गंगा नदी और सोन नदी के बीच में अधिकार था तथा उनका कार्यक्षेत्र मिथिला और अयोध्या के बीच वाले प्रदेश तक फैल गया था। ये सभी घटनायें बतलाती हैं कि राक्षस लोग बहुत शक्तिशाली थे और वह एक बलवान जाति थी।

पउमचरियं के वर्णनानुसार राक्षस लोग सभ्य थे। उनके रीति-रिवाज इत्यादि उच्चकोटि के थे। वे न तो जंगली थे और न क्रूर ही थे। उनका दिखावा भी घृणास्पद नहीं था। धर्म के क्षेत्र में तो उनको बिल्कुल जैन बना दिया गया है। एक तरफ वाल्मीकि रामायण में उन्हें क्रूर, दुष्ट, अमानव, इत्यादि की तरह चित्रित किया गया है और देखने में वे बड़े ही डरावने थे। दूसरी तरफ ऐसे भी संदर्भ हैं जहाँ पर वे मनुष्यों की तरह कार्य करते हुए सुन्दर चेहरे वाले बतलाए गये हैं। लंका का, रावण के महल का तथा वहाँ के आरामदेह जीवन का और रावण की सभा का जो वर्णन है इससे स्पष्ट है कि वे पिछड़े हुए लोग कभी भी नहीं थे।

तब प्रश्न यह है कि अन्य स्थलों पर वाल्मीकि रामायण में राक्षसों को बीभत्स, घृणास्पद, क्रूर, दानव और मनुष्यभक्षक क्यों बतलाया गया है ?

इसका कारण यही हो सकता है कि वे ब्राह्मणों की धार्मिक यज्ञपद्धति का विरोध करते थे। विश्वामित्र की कथा तथा राम की दण्डकारण्य के तरफ की यात्रा से यह स्पष्ट है। जैनधर्म भी यज्ञविरोधी था क्योंकि यह प्रथा जैन सदाचार के विपरीत थी। इसी कारण जैनों ने राक्षसों को आदर का स्थान दिया है क्योंकि वे वैदिक हिंसा के विरोधी थे। जैनों के इस चित्रण में कुछ सत्य की झांकी मिलती है जैसे कि वाल्मीकि रामायण में ही ऐसे प्रसंग आते हैं जब राक्षस तपश्चर्या करते हुए (५. ५९. ४), वेद तथा वेदांग पढ़ते हुए (५. १८. २; ६. १०. ८; ६. १०९. २३; ६. ९२. ६०), शिल्पज्ञ (६. ७१. २९; ६. ६३. १४-१६) और संस्कृत का अध्ययन करते हुए (५. ३०. १९; ३. ११. ५५) बतलाये गये हैं।

यज्ञ का विरोध करना, यज्ञ के हिमायती मुनियों को कष्ट देना, अपनी शक्ति व बल के मुकाबले से आर्यों को दक्षिण में बढ़ने से रोकना, उत्तर में अपने अधिकार के लिए प्रयत्न करना इत्यादि ऐसे ही कार्य हैं जिसके कारण वाल्मीकि रामायण में इन्हें प्रतिकूल रूप में चित्रित किया गया है। श्री शा. ना. व्यास<sup>१</sup> का कहना है कि वे आर्यों के कट्टर विरोधी थे इसलिए उनको ऐसा चित्रित किया गया है। श्री सी. वी. बेंड<sup>२</sup> तो इनको उन्नत जाति के लोग बतलाते हैं परन्तु आर्यों के साथ खिलाफत होने के कारण इनको क्रूरधर्मी कहा गया है। चूँकि राक्षस लोग ब्राह्मण प्रथा का प्रतिरोध करते थे इसलिए उनको दैत्य व खूनभक्षी कहा गया है। जिस प्रकार सैमिटिक लोग उनकी विरोधी जातियों को नापाक, खूँखार, क्रूर और बर्बर चित्रित करते थे।<sup>३</sup>

वस्तुस्थिति तो यह है कि राक्षस एक सभ्य लोग थे और उनकी अपनी संस्कृति थी। पेरजिटर साहब तो इनकी सभ्यता को उत्तरी भारत की सभ्यता से किसी अंश में कम नहीं आंकते हैं। श्री शा. ना. व्यास<sup>४</sup> तो यहाँ तक कहते हैं कि भारत के राजनीतिक इतिहास में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था और उनकी सभ्यता महान् तथा सुसंस्कृत थी।

<sup>१</sup> रामायण कालीन समाज—पृ० ३१

<sup>२</sup> The Riddle of the Ramayana. p. 94

<sup>३</sup> रामायण कालीन समाज—पृ० ५२

<sup>४</sup> Ancient Indian Historical Traditions—p. 227

<sup>५</sup> रामायण कालीन समाज—पृ० १६

## भारतीय विद्याविद् डा० ज्हान ज्यार्ज बूह्लर

### श्री कस्तूरमल बांठिया

यह कम लोग ही जानते हैं कि जैनधर्म-साहित्य और इतिहास की ओर डा० हर्मन याकोबी को आकृष्ट करनेवाले स्वर्गीय डा० ज्हान ज्यार्ज बूह्लर थे। संस्कृत साहित्य की ओर यूरोपीयों को सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट करने वाले थे। भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल श्री वारन हेस्टिंग्स के सहयोगी और तत्कालीन सुप्रीम कोर्ट के एक न्यायाधीश सर विलियम जोन्स जिन्होंने स्वयं संस्कृत पढ़ी, कालिदास की शकुन्तला का अनुवाद किया और इसी लक्ष्य से एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल की स्थापना की और उसके द्वारा संस्कृत साहित्य की खोज एवं प्रकाशन का देश में श्रीगणेश हुआ। श्री जोन्स के निधन के पश्चात् यह भार श्री कोलब्रुक को सम्हालना पड़ा जो कंपनी की नौकरी में १७८२ में भारत में पहुंचे थे। उस समय गवर्नरजनरल हेस्टिंग्स हिन्दू-धर्म-संहिता (कोड आफ हिन्दू ला) तैयार करवाने में लगे थे, परन्तु जो उन्होंने पंडितों की सहायता से संहिता तैयार करवाई, वह सर विलियम जोन्स को पसंद नहीं आई और उन्होंने यह काम स्वयं करने का भार उठाया। परन्तु इसी बीच उनकी मृत्यु हो गई और तब इसे श्री कोलब्रुक ने पूरा किया। इसी लक्ष्य से पं० जगन्नाथ तर्कपंचानन ने संस्कृत में 'विवादभंगार्णव' नामक ग्रंथ की रचना की थी जिसका अंग्रजी में अनुवाद श्री कोलब्रुक ने तीन खंडों में 'डाइ-जैस्ट आव हिन्दू ला' नाम से किया और इससे उनके संस्कृत ज्ञान की छाप बँठ गई। प्रधान पंडितों से चर्चा-विचारणा करने के पश्चात् इस संहिता के अनेक विषयों पर जो विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियां इन्होंने दी हैं, वे आज भी उद्धृत की जाती हैं। इन्होंने कोलब्रुक ने भारत में रहते हुए भारतीय सभ्यता और साहित्य संबंधी कई निबन्ध लिखकर प्रकाशित किए जिनमें से एक था "संस्कृत और प्राकृत भाषा" और दूसरा था "जैनधर्म का अनुशीलन"। इनके ऐसे अनेक विद्वत्तापूर्ण कार्यों से जो वे इंग्लैंड लौट जाने पर भी करते ही रहे थे, प्रभावित होकर संस्कृत के प्रकांड विद्वान प्रो० मैक्समूलर ने इन्हें 'यूरप में

यथार्थ संस्कृत विद्यावत्ता का जनक और संस्थापक' कहा था। जैनधर्म पर लिखनेवाले यही सर्वप्रथम यूरोपीय विद्वान हैं। इनकी चलाई इस परम्परा में इनके निधन के वर्ष ही जर्मनी के हैनोवर राज्य के नीअनबर्ग (NIENBURG) नगर के निकटस्थ बोरस्टल (BORSTEL) में १९ जुलाई १८३७ को श्री जहान ज्यार्ज बूह्लर का एक पादरी के घर में जन्म हुआ था, जिसने १८७० में संस्कृत-प्राकृत साहित्य के भंडारों के खोज की बम्बई में नींव डाली और भंडारों में संगृहीत अमूल्य साहित्य रत्नों की परिचयात्मक प्रतिवेदनाएँ प्रतिवर्ष प्रकाशित करना शुरू किया। राजपूताना और अन्य स्थानों के जैन भंडारों की खोज में डा० हर्मन याकोबी भी सहायक रूप से इनके साथ थे और इसने ही उन्हें जैनदर्शन-साहित्य और इतिहास के अध्ययन और अनुसंधान की ओर ऐसा झुका दिया कि वे अधिकारी विशेषज्ञ ही हो गए। फिर तो न केवल डा० याकोबी के शिष्यगण ही अपितु अन्य अनेक विद्वान् भी इस ओर आकृष्ट हो गए और आज भी इस दिशा में अभूतपूर्व कार्य कर रहे हैं। हिन्दी जगत् को उनके जीवन व कृतित्व का संक्षेप में परिचय कराना और करना उपयोगी होगा।

### मौलिक विचारणा के धनी डा० बूह्लर :

डा० बूह्लर का प्रारम्भिक शिक्षण हैनोवर के पब्लिक स्कूल में हुआ और वहाँ से उत्तीर्ण होकर उन्होंने सन् १८५५ में गार्टिंगन (GOTTINGEN) के विश्वविद्यालय में प्रवेश किया जहाँ उनके अध्यापकों में से एक थे भाषा और जन-श्रुतिविद् (लिंग्विस्ट एंड फोकलोरिस्ट) प्रो० थोओडोर व्बैनफे जिन्होंने बूह्लर में भारतीय विद्या के प्रति प्रेम जाग्रत किया। बूह्लर उनके महानतम शिष्य थे। युवक बूह्लर ने संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक पक्ष की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। ऐसा देखकर प्रो० व्बैनफे ने उन्हें यह हितशिक्षा दी कि संस्कृत पांडित्य की कसौटी वेदों का अध्ययन है और इसलिए उन्हें भारतीय साहित्य के इतिहास में जो कुछ भी यथार्थतः महत्व का है उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। बूह्लर ने गुरु की इस हितशिक्षा को शिरोधार्य किया और उन्होंने ने एक शब्द भी प्रसिद्धिप्राप्ति के लिए नहीं लिखा। जो भी लिखा उसे अपने मौलिक विचारों और अवधारणाओं से सदा प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न किया। उन्हें सन् १८५८ में डाक्टरेट प्राप्त हो गई और वे लंदन, आक्सफर्ड और पेरिस, वहाँ के विद्याकेन्द्रों के पुस्तकालयों के पौर्वात्यविद्या विभागों में काम कर पाने की आकांक्षा से इसलिए चले गए कि उन्हें वहाँ वैदिक हस्तलिपियों



की प्रतिलिपि और मिलान कर यथाक्रम लगाने के अवसर प्राप्त हों। लंदन में उनका परिचय प्रो० मैक्समूलर से हुआ जो कालांतर में गाढ़ मैत्री का हो गया और आजीवन बना रहा। कुछ समय तक डा० बूह्लरने विंडसर (इंग्लैंड) के राज्य-पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष के सहायक का काम किया और फिर इसी हैसियत में गार्डिगन के पुस्तकालय में भी काम किया।

अब तक वे पुस्तकों द्वारा ही संस्कृत का अध्ययन करते रहे थे जिससे उन्हें संतोष नहीं मिल रहा था। वे भारतवर्ष जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे जहां संस्कृत के पंडितों के चरणों में बैठकर संस्कृत का नियमतः अध्ययन कर सकें और ऐसा अवसर मिलता हो तो वह व्यापारी के लिपिक या गणक के रूप में भी जाने को तैयार थे। उन्होंने इसमें प्रो० मैक्समूलर की सहायता चाही और उन्होंने बम्बई शिक्षा सेवा में अपने परिचित श्री हावर्ड, जो उस समय वहां के जन-शिक्षा निर्देशक थे, द्वारा उनके लिए काम का प्रबंध करा दिया। परन्तु जब तक बूह्लर बम्बई पहुंचे, श्री हावर्ड कहीं दौरे पर थे और विभाग ने 'जगह नहीं' कहकर उन्हें टाल दिया। ऐसी दशा में बूह्लर मैक्समूलर के दूसरे मित्र ऐर्लाफिस्टन कालेज के प्राचार्य (प्रिंसिपल) श्री एल्वेजेंडर ग्राएट के पास पहुंचे और उन्होंने उन्हें अपने महाविद्यालय में पौर्वात्य भाषाओं के प्रोफेसर के पद पर तुरत ही नियुक्त करा दिया। इस प्रकार डा० बूह्लर सन् १८६५ में ऐर्लाफिस्टन महाविद्यालय में एक शिक्षक का काम करने लगे। १७ वर्ष तक बम्बई राज्य के शिक्षा-विभाग में कभी प्रोफेसर, कभी शिक्षा निरीक्षक और कभी संस्कृत हस्तलिपियों की खोज के अधिकारी के रूप से वह काम करते रहे। प्रोफेसर और शिक्षा-निरीक्षक रूप में उनकी सेवाएं ऐल-फिस्टन महाविद्यालय के प्राचार्य और जनशिक्षा विभाग द्वारा बहुसमादृत और प्रशंसित रही थीं। भारतीय जलवायु, कठिन परिश्रम, और अविकसित भागों पर निरंतर दौरा करते रहने ने उन्हें अवसर प्राप्तकर सन् १८८० में देश लौटने को विवश कर दिया। परन्तु वहाँ लौटकर भी वह अधिक दिनों तक निवृत्ति में नहीं रह पाए। वियाना विश्वविद्यालय में संस्कृत और भारतीयविद्या (इंडोलोजी) के प्रोफेसर के रूप में उन्हें कार्यभार सम्हाल लेना पड़ा। वियाना में पौर्वात्य विद्याओं के अध्ययन का केन्द्र खोलने की उन्हें सदा ही तीव्र आकांक्षा रही थी, इसलिए पद सम्हालते ही १८८६ में उस विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान (ओरियंटल इंस्टीट्यूट) की स्थापना उन्होंने कर दी और 'वियाना ओरियंटल जर्नल' नाम का सामयिक भी प्रकाशित करने लगे।

## डा० बूह्लर का पांडित्य :

उपरोक्त सामयिक में डा० बूह्लर के भारतीय इतिहास, पुरालिपि (पेलियो-ग्राफी) और पुरालेख (एपीग्राफी) पर मौलिक लेख प्रकाशित होते थे। जब भी अवसर आता वे संस्कृत के गहन अध्ययन का दावा प्रस्तुत करते रहते थे। उन्होंने अपने लिए संस्कृत के यूरोपीय पंडितों के नेता का पद प्राप्त कर लिया था। वियाना विश्वविद्यालय के शांत और सहानुभूतिसम्पन्न वातावरण में उन्होंने भारत-आर्य संशोधन विश्वकोश (एनसाइक्लोपीडिया आफ इंडो-आर्यन रिसर्च) नामक महान् ग्रंथ की योजना बनाई और उसे प्रायः संपूर्ण भी कर दिया। यह उस काल की पौर्वात्य विद्या के क्षेत्र में एक महान् प्रयत्न था। उनके गहन ज्ञान और महान् पांडित्य ने उनको अनेक सम्मान प्रदान करा दिए। वह ब्रिटेन और यूरोप की अनेक प्रमुख प्राच्यविद्या प्रतिष्ठानों एवं अकादमियों के तत्स्थानीय सदस्य (करेसपांडिंग मॅम्बर) चुन लिए गए। अंजूमन-ई-पंजाब, एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, और अहमदाबाद की गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी ने भी इन्हें अपना मानद सदस्य बनाया और उन्हें अँग्रेज सरकार ने 'सर' की पदवी प्रदान कर सम्मानित किया।

वह खूब ही पढ़ने वाले और खूब ही लिखने वाले थे। उनकी साहित्यिक कृतियों का सर्वेक्षण करना आसान काम नहीं है। फिर भी उनकी महत्व की कृतियों की संक्षेप में कुछ चर्चा कर दें। डाक्टरेट प्राप्ति के पश्चात् ही वह लिखने लगे थे। प्रो० व्यैनफे-सम्पादित 'औरियंट एंड आक्सीडेंट' नामक सामयिक में दिए अनेक लेखों में से सन् १८६२ में प्रकाशित 'पर्जन्य' विषयक लेख में उन्होंने तुलनात्मक भाषाविज्ञान (कम्पैरेटिव फिलोलोजी) और वैदिक पुराण कथाओं (माइथोलोजी) की चर्चा की है। जब वह लंदन के किसी पुस्तकालय में काम करते थे, मैक्समूलर के ग्रंथ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' की शब्दानुक्रमिका उन्होंने तैयार की थी। यह १८५९ की बात है। वह संस्कृत के सनातनी पंडितों का सदा ही मान करते थे और उनकी भारी प्रशंसा करते रहते थे। जब वह भारतवर्ष में थे, उन्होंने पुरानी पद्धति के शास्त्रियों को, उच्च श्रेणियों के विद्यार्थियों की सहायता के लिए ही नहीं बल्कि प्रोफेसर्सों के सहायक रूप में भी नियुक्त किए जाने का जोरदार शब्दों में समर्थन किया था।

## संस्कृत पठन की पौर्यात्य सनातनी पद्धति और पाश्चात्य पद्धति का एकीकरण हो :

वह अपने ही ढंग से भारतीय सनातनी शिक्षणपद्धति के साथ यूरोपीय ज्ञास्त्रीय शिक्षा के लाभों का एकीकरण चाहते थे । यदि उनके सुझावानुसार काम हो जाता तो उनकी औरियंटलिस्ट्स शाखा में अनेक भारतीय विद्याविद् आज पाए जाते । आप्टे, भंडारकर, शंकर पाण्डे, और तेलंग उस शाखा के ही कुछ चमकते सितारे थे । प्राकृत एवं संस्कृत भाषाविज्ञान के अध्ययन ने उन्हें हूल्डश (Hultzsch), फ्यूरर (Furrer), वैंडल (Waddel) आदि को पुरातात्विक अध्ययनों में रुचिवान बनाया था । डा० विर्टनट्ज के अनुसार जो कि उनके एक ख्यातिप्राप्त शिष्य थे, तो बूह्लर का सारा भारतीय अध्ययन प्राचीन भारत के सुसंबद्ध इतिहास-प्रकाशन के लिए किया गया नींवलुदाई का काम ही था । उनका वह काम आदर-आकांक्षा मात्र ही रह गया है क्योंकि अकस्मात् मृत्यु के कारण वह हमसे छीन लिए गए हैं । पुरोगामी रूप में वह सजग थे और मानते थे कि पुरोगामियों को, चाहे वे कभी-कभी विभिन्न मति हों फिर भी, सदा संयोग करते ही रहना चाहिए ।

उन्हें सदा ही हस्तप्रतियों की खोज और उत्साहपूर्ण संग्रह के लिए श्रमण किया जायगा । इस विषय में वह न केवल बर्लिन, कैम्ब्रिज और पैरिस की पौर्यात्य शाखा के अन्य पुरोगामियों के साथी हैं, बल्कि उन सबों से बढ़-चढ़कर भी हैं । क्योंकि उन्होंने बम्बई सरकार की दक्षिण भारत की संस्कृत हस्तपुस्तकों के संग्रहालयों की छानबीन के लिए प्रतिनियुक्ति स्वीकार कर ली थी । उनके प्रयत्न सफल हुए और दुर्लभ हस्तप्रतियों का कम से कम २३०० का अच्छा संग्रह सरकारी संग्रहालय में हो गया था ।

उन्होंने डा० कीलहार्न के सहयोग में बम्बई संस्कृत ग्रन्थमाला के प्रकाशन का काम शुरू तब किया जब वे पूना में थे । इस माला के प्रकाशित अनेक ग्रंथ कभी प्रकाश में ही नहीं आते यदि डा० बूह्लर उत्साह और भक्ति के साथ उसमें नहीं जुट गए होते । 'पंचतन्त्र' के चार तन्त्र, दंडी के 'दशकुमार चरित' का पहला भाग इस ग्रंथमाला में उन्हीं द्वारा प्रकाशित हुआ था । उन्होंने विल्हण के 'विक्रमांक देवचरित' को खोज निकाला और १८७५ में उसका सम्पादक भी कर दिया । सर रेमएड व्यैस्ट के सहयोग में सन् १८६७ में उन्होंने प्रख्यात 'डाइजेस्ट आव हिन्दू ला' प्रकाशित किया । जैसे-जैसे अंग्रेजी

न्यायालयों का कार्य बढ़ता जा रहा था, वारसा, बंटवारा और दत्तक के लिए हिन्दू ला के डाइजैस्ट की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही थी। बूल्जर ने सर रेमएड व्यैस्ट के 'डाइजैस्ट' के लिए अपनी प्रख्यात प्रस्तावना (इंट्रोडक्शन) लिखी जिसमें हिन्दू ला का यथार्थ एवं परिपूर्ण सर्वेक्षण है। सन् १८७१ में उन्होंने आपस्तम्ब के हिन्दू धर्मशास्त्र सम्बन्धी सूत्रों का प्रकाशन किया। मैक्समूलर की भी उन्होंने 'सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' ग्रन्थमाला के लिए ग्रंथ २, १४ और २५ लिखकर सहायता की। आपस्तम्ब, बौधायन और गौतमवाशिष्ठ के गृह्यसूत्रों के अँग्रेजी अनुवादों के दो भाग (धाने सं० २ और १४) अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। इनके बाद ग्रंथ २५ के रूप में उनका किया हुआ मनुस्मृति का अनुवाद उसी ग्रंथमाला में सन् १८८६ में प्रकाशित हुआ था।

उस युग के अनेक पाश्चात्य पण्डितों से वह हिन्दूधर्म की आधार पुस्तकों (सोर्स बुक्स) के निर्माण काल के विषय में विभिन्न मत रखते थे। वह उन्हें उनकी अपेक्षा अधिक प्राचीनता देते थे। संस्कृत साहित्य के अध्ययन से उन्होंने अपना ध्यान शिलालेखों के अध्ययन की ओर लगा दिया और उसके ही अस्वरूप वे भारतीय इतिहास के हिन्दू काल का कालक्रम प्रमाण निश्चित कर सके। उन्होंने इस विषय पर ३५ लेख 'इंडियन एंटीक्वैरी' में प्रकाशित किए और ४२ 'एपीग्राफिका इंडिका' में। भारतीय ऐतिहासिक अभिलेखों की व्याख्या करने का काम अति गहन अध्ययन के पश्चात् ही उन्होंने हाथ में लिया था।

लिपिशास्त्र, न कि ऐतिहासिक शिलालेख, ही डा० बूल्जर की अत्यन्त रुचि का विषय था। 'भारतीय ब्राह्मी लिपि' और 'भारतीय लिपिशास्त्र' ये दोनों उनके महान् ग्रंथ हैं। भारतीय पुरातत्व, शिलालेख (एपीग्राफी), साहित्य और भाषाविज्ञान सभी में उनकी भारी वेन है। उनका विश्लेषण और उनकी व्याख्या, उनके अध्यवसायी अध्ययन और पांडित्य की साक्षी देते हैं।

वह भारतीय साहित्य-रत्नों की वह सूची बनाने में जिसका प्रारम्भ श्री विहटले स्टोक्स ने किया था, अत्यन्त ही सफल हुए थे। जब वह महत्व की हस्तप्रतियों की खोज में थे, उनकी आँखें प्राचीन शिलालेखों की ओर भी खुली रहती थीं। ईसा पूर्व तीसरी शती के हमारे महाराजा अशोक के शिलालेखों का आकलन उन के एवं श्री एम. सेनार्ट दोनों के संयुक्त सर्वप्रथम परिश्रम का ही परिणाम है।

## भारतीय धर्मों के इतिहास को बूह्लर की देन :

दूसरी महत्वपूर्ण सेवा उन्होंने भारतीय धर्मों के इतिहास क्षेत्र में की। जैनधर्म के सम्बन्ध की कुछ हस्तप्रतियों की उनकी खोज ने विद्वानों के लिए जैनधर्म के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उन्होंने ५०० से कुछ अधिक जैन प्राकृत हस्तप्रतियाँ खोज ही नहीं लीं, बल्कि उन्हें खरीदकर अपने अधिकार में भी कर लीं। ये प्रतियाँ तुरन्त बर्लिन विश्वविद्यालय, जर्मनी को भेज दी गईं और इस प्रकार बर्लिन जर्मन जैन भाषाविज्ञान का केन्द्र बन गया।

प्रो० याकोबी, बूह्लर की राजपूताने एवं अन्य जैन भण्डारों की यात्रा में उनके साथ थे। और जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इन्होंने याकोबी को जैनधर्म विषयक अपने कीर्तिस्तम्भस्वरूप अध्ययन में लगा दिया। स्वयं बूह्लर की भी जैनधर्म-इतिहास में अमाप देन है। उसने पंडितों को जैनधर्म का अध्ययन करते रहने की प्रेरणा दी और सन् १८९७ में अपने निजी अध्ययन का परिणाम “इंडियन सैक्ट आव जैनाज” शीर्षक से प्रकाशित किया था। गहन अध्ययन के परिणाम स्वरूप वह बौद्ध धर्म से जैनधर्म की प्राचीनता, पूर्वापर्यता के निर्णय पर पहुँचे। यह कहना जरा भी अतिशयोक्ति नहीं कि भारत के जैनों इस विषय में उसके अत्यन्त ऋणी हैं।

ऊपर “एनसाइक्लोपीडिया आव इंडो-आर्यन रिसर्च” के विषय में संकेत किया जा चुका है। इस महान विश्वकोश के निर्माण में डा० बूह्लर ने संसार के भिन्न-भिन्न भागों के कोई ३० विद्वानों से सहायता प्राप्त की थी। उसने स्वयं इस विश्वकोश के ९ भागों का सम्पादन किया जिनमें से भाग १ खंड २ ‘भारतीय लिपिशास्त्र’ (इंडियन पैलियोग्राफी) तो उसका ही लिखा हुआ था। उन्होंने इन लेखों के जो मूलतः जर्मन भाषा में लिखे गये थे, अंग्रेजी में अनूदित किए जाने की वकालत की। अन्य गहन अध्ययन में व्यस्त विद्वान् का ऐसे भारी विश्वकोश के सम्पादन, लेखन-लिखावन आदि अनेक छोटे से छोटे काम में कितना मूल्यवान समय खर्च हुआ होगा, इसका अनुमान तक भी नहीं लगाया जा सकता है। परन्तु डा० बूह्लर ने इसकी तैयारी में किसी भी प्रकार के परिश्रम में जरा भी कमी नहीं की। उनका यह काम प्रत्येक भारतीय विद्याविद्, जो इस प्रकार अकेला ही ऐसे मार्ग पर चल रहा है, के लिए सदा आलोकस्तम्भ रहेगा।

## नौकाविहार करते अकस्मात् मृत्यु :

सन् १८९८ का ईस्टर अवकाश उन्होंने सपरिवार ज्यूरिक (Zurich) में बिताने का प्रोग्राम बनाया और अपनी पत्नी एवं शिशु सहित अप्रैल ५ को वियाना से वे वहाँ के लिए रवाना हुए। मौसम अत्यन्त सुहावना और लुभावना था, अतः वे जब स्विट्जरलैंड के कांस्टेंस ताल (लेक कांस्टेंस) के पास से गुजर रहे थे कि उन्हें उस ताल में नौकाविहार करने की तीव्र लालसा हो उठी और वे उसके तटस्थ पर्यटक उपनगर लिंडला (Lindlaw) पर उतर ही पड़े। ता० ८ अप्रैल को जब वह नौकाविहार कर रहे थे कि अकस्मात् उनके हाथ से एक डांड छिटककर ताल में गिर पड़ा और उस छिटके व ताल पर तैरते डांड को उठाने को ज्योंही वह झुके कि नौका का संतुलन बिगड़ गया और वह ताल में गिर पड़े और डूब गए। इस तरह एक महान् भारतीय विद्याविद् का ६१ वर्ष की आयु में अन्त हो ही गया जब कि वह स्वास्थ्य के कारण भारतवर्ष से ४५ वर्ष की अवस्था में ही निवृत्त होकर अपने देश को लौट आया था। उनकी इस आकस्मिक मृत्यु के समाचार सुनकर संसार के और विशेषकर इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और भारत के संस्कृत विद्वान् स्तंभित रह गए। क्योंकि इन सबको डा० बूह्लर से भारी आशाएँ थीं। पर विधि का विधान कैसे टलता ? अपने इस अल्पकालिक जीवन में भारतीयविद्या की की गई उनकी सेवाएँ उन्हें सदा ही अमर रखेंगी।

उनके द्वारा जैनधर्म और उसके शास्त्र-भंडारों की की गई सेवा का, उनका लिखा जर्मन भाषा का 'दी लाइफ आव हेमचन्द्र' भी एक प्रत्यक्ष प्रमाण है जो उन्होंने भारत से लौटने के बाद ही जर्मनी में प्रकाशित कराया था। इससे उनकी गहन अध्ययनशीलता, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-बुद्धि और कठोर परिश्रम प्रत्येक शब्द से और टिप्पणियों से प्रगट होता है। आज भी किसी जैन अथवा गुजरात के अर्जुन विद्वान् ने इस महान् आचार्य का अद्यतन खोजों के आधार पर सर्वांगीण जीवन लिखकर प्रकाशित नहीं कराया है हालाँकि गुजरात के निर्माण में उनके असीम उपकार का स्मरण तो सदा ही किया जाता है। यह जीवन-चरित्र डा० बूह्लर की हेमचन्द्र के प्रति सच्ची श्रद्धा का भी साक्षात् प्रमाण है। देश के सांस्कृतिक और साहित्यिक रत्नों को प्रकाश में लाने की, जो हमारी उपेक्षा से नष्ट होते ही जा रहे हैं, प्रेरणा हमें मिले, यही कामना है।

## थुल्ल वंश की एक अपूर्ण प्रशस्ति

श्री भँवरलाल नाहटा

इतिहास निर्माण में प्रशस्तियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें समाज, धर्म, तीर्थ, गच्छ और जातियों के कितने ही लुप्त पृष्ठ बिखरे पड़े हैं जो अपने धुंधले प्रकाश द्वारा महत्त्वपूर्ण अतीत को आलोकित करते हैं। ज्ञानभण्डारों के विकीर्ण पत्रों में न जाने कितनी ही अज्ञात सामग्री बिखरी पड़ी है जिसका अध्ययन और परिशीलन अत्यन्त आवश्यक है। जैनधर्म और समाज के सर्वाङ्गीण इतिवृत्त के निर्माण के लिए उन सबको प्रकाश में ले आना नितान्त अनिवार्य है। ग्रन्थों से बिछुड़ कर कितनी ही महत्त्वपूर्ण प्रशस्तियाँ नष्ट या अर्द्धनष्ट हो गई जिसकी अप्राप्त कड़ियों ने इतिहासभ्रंखला को विभ्रंखल कर डाला। आलोच्य प्रशस्ति एक ऐसी ही अपूर्ण कृति है।

इसमें थुल्ल गोत्र के महर्द्धिक वंश का मारवाड़ के उस घंटियाली गाँव से संबंध विदित होता है जो अपने प्राचीन शिलालेख के कारण प्रसिद्ध है। उसने शत्रुंजय का संघ निकाला और उसके वंशजों ने लाटहूद को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया और वहाँ के नरेश्वर पृथ्वीपाल द्वारा सम्मानित नररत्न नरपाल न महावीर प्रभु के सौधशिखरी प्रासाद का निर्माण कराया। उनके वंशज और भी आगे बढ़े। गुजरात, दिल्ली और सिंध-मुलतान में अपनी कीर्ति फैलाई। श्रीजिनभद्रसूरि के पट्ट पर आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि का पट्टाभिषेक उत्सव पाटन में कीर्तिरत्नसूरि जी के उपदेश से किया। आचार्य कीर्तिरत्नसूरि बड़े प्रभावक और विद्वान् आचार्य हुए हैं जिनका जन्म और स्वर्गवास महेवा-नाकोड़ा तीर्थ में हुआ था और वहाँ उनकी चरण-प्रतिमाएँ, स्तूप आदि विद्यमान हैं। सागरचन्द्राचार्य, जिनकी परम्परा में बहुत से विद्वान् हुए हैं, इसी थुल्लवंश के रत्न थे। प्रशस्ति में उल्लिखित जितप्रभसूरि का वृत्तान्त अन्वेषणीय है। अब यहाँ प्रस्तुत अपूर्ण प्रशस्ति को सार सहित प्रकाशित

किया जाता है। कहीं इसका उत्तरार्द्ध उपलब्ध हो जाय तो आगे के इतिहास पर प्रकाश पड़ सकता है। अभी तो यह भी अज्ञात है कि किस शास्त्र को किनके उपदेश से लिखाया जिसकी यह प्रशस्ति है।

चौबीस तीर्थंकर, गौतमस्वामी, आचार्य श्री कीर्त्तिरत्नसूरि, चक्रेश्वरी, श्रुतदेवी व सिद्धायिका को नमस्कार कर प्रशस्ति लिखी गई है जो १७ श्लोक पूर्ण व बाद में अपूर्ण रह गई है क्योंकि इसका एक पत्र ही उपलब्ध है।

कल्पवृक्ष सदृश ऊकेश वंश की विस्तृत थुल्ल शाखा है। जिसमें श्री रामचन्द्र की सन्तान कर्पाट्टक श्रावक महर्द्धिक हुए। उनके पुत्र धांधल हुए जो घंटीयाली पुर में मुख्य और चतुर नागरिक थे। उनका पुत्र ऊडा था जो दान में दूसरा कर्ण था। उसने शत्रुंजय तीर्थ पर संघपति पद प्राप्त किया। उसका पुत्र धीधा व्यापारियों में प्रधान था और लाटहृद में दानियों में उदाहरण स्वरूप था। उसके पुत्र लाखण और लखमसी हुए। राजा पृथ्वीपाल से सम्मानित होकर नरपाल ने लाटहृद में भगवान् महावीर का उत्तुंग जिनालय बनवाया। लखमसी के पुत्र राजमान्य पद्माक को संघपति का तिलक हुआ। उनके पुत्र समरसिंह ने संघ सहित तीर्थाधिराज शत्रुंजय की यात्रा की एवं आचार्य कीर्त्तिरत्नसूरि के वचनों से पत्तन में महोत्सव पूर्वक श्री जिनभद्रसूरि जी के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि जी को अभिषिक्त करने में प्रचुर द्रव्य व्यय किया।

समरसिंह का पुत्र सालिग और उसका पुत्र भरत हुआ। उसका पुत्र वच्छराज सुरत्राण को सभा में सम्मानित था। पद्माक के पुत्र धनपति के पुत्र लखराज दिल्ली में तथा नगराज मुलतान में बुद्धिमान नररत्न थे।

सागरचन्द्राचार्य इसी कुल में महान् आचार्य हुए, जिनप्रभसूरि गुरु को स्थापित किया। वीरा की सन्तानधारा भी बुद्धिमान और वंशतिलक थी। नररत्न नरपाल का पुत्र देदा हुआ, जिसकी प्रिया देल्हन देवी थी। इनके चार पुत्र हुए। इनके नाम क्रमशः मेला, गूजर, हरिभ्रम एवं भुवणा हैं। मेला के पुत्र सामन्त, देवा और सामन्त के दूमर, ठाकुर और ऊडा ये तीन पुत्र हुए। हरिभ्रम का पुत्र खीमराज और पौत्र कुन्त हुआ। भुवणा के.....

प्रस्तुत प्रशस्ति यहाँ तक वर्णन कर अपूर्ण रह जाती है। इसके रचना-



काल के संबंध में विचार करने पर प्रतीत होता है कि समरसिंह द्वारा कीर्ति-रत्नसूरि के उपदेश से जिनचन्द्रसूरि का पट्टाभिषेक किया गया तो यह समय सं. १५१५ है एवं कीर्तिरत्नसूरि जी का स्वर्गवास सं. १५२५ में हुआ है। इन आचार्यप्रवर के प्रशस्तिनायक परम भक्त थे और प्रारम्भ में उनको नमस्कार भी किया गया है। इस समरसिंह के बाद की चार पीढ़ियों के नाम इसमें आये हैं अतः सोलहवीं शताब्दी के शेषार्द्ध में यह प्रशस्ति रची गयी संभव है।

प्रशस्ति के १३ वें श्लोक में सागरचंद्राचार्य का नाम आता है वे तो जिनभद्रसूरिजी के स्थापक हैं जिनकी शाखा के भावहर्ष उपाध्याय से भाव-हर्षीय बालोतरा शाखा पृथक् हुई। सागरचंद्राचार्य की शिष्यसन्तति में अनेक विद्वान् ग्रंथकार एवं कवि हो गये हैं और आज भी उनकी शाखा के यति विद्यमान हैं। १३ वें श्लोक की द्वितीय पंक्ति में जिनप्रभसूरि नाम आया है वहाँ जिनभद्रसूरि होना अधिक संभव है।

### प्रशस्ति

स्वस्ति श्रीर्जयमंगल कल्याणकारक श्री चतुर्विंशति तीर्थंकर श्री गौतमादि गणधर श्रीमदाचार्यरत्न श्री कीर्तिरत्नसूरि श्री चक्रेश्वरी सिद्धायका श्रुतदेवतादिभ्यो नमः ॥

श्रीमानूकेश वंशोयं, कल्पशाखीव राजते

विस्तीर्ण थुल्ल शाखास्ति फलान्यमूनि तत्र च ॥१॥

श्री रामचन्द्र सन्ताने कपर्दिको महर्षिकः

जात्यश्वदानतो रक्ष दादानां वंशमद्भुतम् ॥२॥

पितृ पंथानुयायी यो धांधलस्तस्य नन्दनः

घंटीयाला पुरे पौर मुख्यो दक्षाग्रणी धनी ॥३॥

उदाकस्तत्सुतो जज्ञे कलौ कर्णरिवापरः

श्रीशत्रुञ्जयतीर्थे यः संघनाथ पदं ललौ ॥४॥

व्यवहारि शिरोरत्नं धीधाकस्तस्य सूनुराट्

दृष्टान्तो दान शौण्डानां श्रीमल्लाटहृदे जनि ॥५॥

लक्षगुणैर्ललिताङ्गो लाखण(लखमसी) संज्ञस्तदंग्जो

जातः द्वितीयो वंश कोटीरो लक्ष्मसिंहो नरोत्तमः ॥६॥

नररत्नं नरपालः पृथ्वीपालैः प्रदत्तबहुमानः  
उत्तंग वीरभुवनं चक्रे यो लाटहृद् नगरे ॥७॥

भूपाल बंद भोक्ता भूत्पद्माको लक्ष्मसिंहजः  
राजमान्यो ललौ संघाधीशस्य तिलकं वरम् ॥८॥

तत्पुत्रो जिनराजो गुरु कार्ये राज विग्रहं चक्रे  
श्रीशत्रुञ्जयतीर्थे यात्रां बहुसंघसंयुक्ताम् ॥९॥

श्रीसमरसिंह संज्ञस्तदंगजो राजमान्य आर्यवरः  
श्रीकीर्तिरत्न वचसा महोत्सवं पत्तने चक्रे ।  
श्रीजिनचंद्रमुनीन्द्रं जिनभद्रगुरोः पदाम्बुजे हंस  
संस्थापितवान् बहुधनव्ययेन बहुपौरुषः समक्षम् ॥१०॥

तत्सुतः सालिगो जज्ञे तत्पुत्रो भरतो जनि  
सुरत्राणसभामान्यो वच्छराजोस्ति तत्सुतः ॥११॥

पद्मापुत्रो धणपतिलेखराजोस्तत्सुतो जनि  
सुढिल्यां नररत्नं नगराजो विशुद्धधी मूलताणपुरे ॥१२॥

श्रीसागरचन्द्रारूयो जातोस्मिन् सत्कुले महाचार्यः  
जिनप्रभसूरि गुरुवर स्थापक आश्चर्यं कृत्रिमित्तः ॥१३॥

वीरा पुत्रोन्वये मुष्मिन् जातो धाराभिधः सुधी  
विजयो बंशकोटीरस्तस्य पुत्रः पवित्रधी ॥१४॥

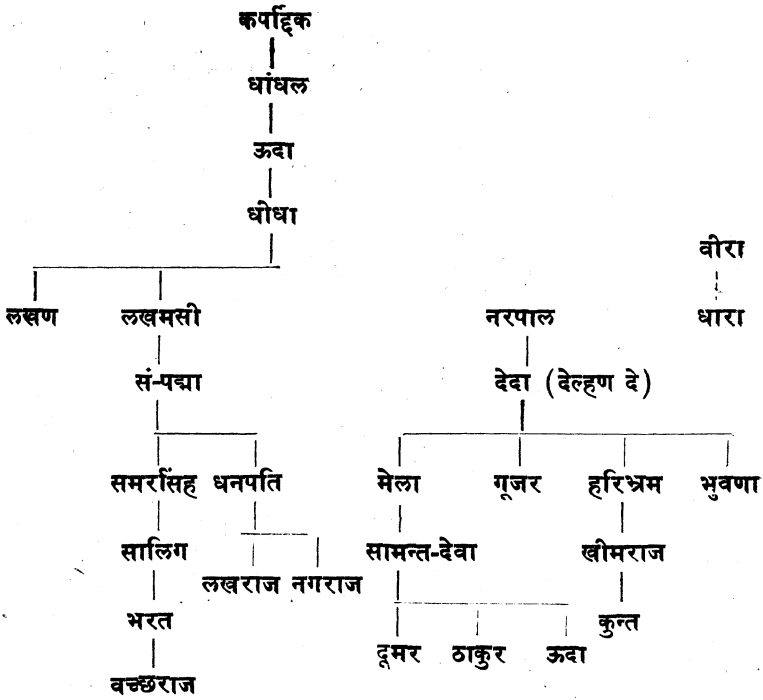
॥अथ॥ नरत्न नरपालस्य पुत्रो देहाभिधो जनि  
देल्हणदे प्रिया तस्य चत्वारो नन्दना अमी ॥१५॥

मेलाभिधोंगज पूर्वो द्वितीयो गूजराह्वयः  
हरिभ्रमस्तृतीयस्तु चतुर्थो भुवणाभिधः ॥१६॥

मेलापुत्रो सुसामन्त देवा संज्ञो तदाद्यजा  
दूमरो ठाकुरो ऊदा संज्ञा पुत्र इमे त्रयः ॥१७॥

हरिभ्रम सुतो खीमराजो कुन्तस्तु तत्सुतः  
भवणाख्य सु.....

यहाँ उपर्युक्त प्रशस्ति से वंशवृक्ष दिया जाता है—



# सेवा : एक विश्लेषण

श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री

भारतवर्ष का चिन्तन मानव को सदा से यह प्रेरणा प्रदान कर रहा है कि सेवा ही जीवन है, सेवा ही तप है, सेवा ही धर्म है, सेवा से बढ़कर कोई धर्म नहीं, तप नहीं।<sup>१</sup>

सेवा यह दो अक्षरों का लघु शब्द अपने आप में एक विराट् अर्थगरिमा को संजोये हुए है। आज सेवा के अर्थ में सहयोग शब्द व्यवहृत है किन्तु सहयोग और सेवा में बहुत बड़ा अन्तर है। सहयोग में विनिमय की भावना रहती है। वह स्वार्थ पर आश्रित है उसके अन्तस्तल में अहंकार होता है जब कि सेवा में विनिमय की भावना नहीं होती, वह विवेक पर आश्रित है, उसके अन्तस्तल में नम्रता होती है, अतः सेवा के अर्थ में सहयोग शब्द का प्रयोग करना सेवा की महती अर्थसम्पदा को कम करना है।

जैनागमों में सेवा के अर्थ में "वेयावडियं"<sup>२</sup> और "वेयावच्च"<sup>३</sup> ये दो

<sup>१</sup> पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।

ज्ञाणं च विओसग्गो, एसो अब्भन्तरो तवो ॥

—उत्तरा० अ० ३, गा० ३०

(ख) औपपातिक-तपोधिकार.

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र. अ. ९, सू. २०

<sup>२</sup> There is no greater religion than service.

<sup>३</sup> एयाइं तीसे वयणाइ सोच्चा,

पत्तीइ भदाइ सुहासियाइ ॥

इसिस्स वेयावडियट्ठयाए,

जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति ॥ —उत्तरा. १२-२४

(ख) पुब्बिं च इण्हिं च अणागयं च,

मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ ।

जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति,

तम्हा हु एए निहया कुमारा ॥ —उत्तरा. १२-३२

शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनका संस्कृत रूप क्रमशः वैयापृत्य और वैयावृत्य है । वैयावृत्य का अर्थ है—जिस व्यक्ति को जिस प्रकार की आवश्यकता हो उस व्यक्ति को उचित सत्कार करना ।<sup>४</sup> श्रमणों को शुद्ध आहार आदि से सहारा पहुँचाना ।<sup>६</sup> अथवा द्रव्य और भाव से अपना स्वयं का तथा पर का उपकार करना ।<sup>७</sup> संयमी की आपत्तियों को दूर कर संयम में अनुराग करना ।<sup>८</sup>

- (ग) वेयावडियं करेह  
वेयावडियं करेति । —भग. श. ५, उ. ४, सू. १८७  
गिहिणो वेयावडियं । —दशवै. अ. ३, गा. ६
- (घ) गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा ।  
—दशवै. दूसरी चूलिका. गा. ९
- ४ (क) वेयावच्चं तहेव सज्जाओ । —उत्तराध्ययन ३०, गा. ३०  
(ख) उत्तरा. अ. २९-४३.  
(ग) वेयावच्चं वावडभावो इह धम्मसाहणणित्तं, अण्णाइयाण विहिणा संपायणमेस भावत्थो ।  
—स्थानाङ्ग ५।३।५११, टी. प. ३४६.
- (घ) भगवती २५।७, पृ. २८०  
(ङ) औपपातिक सूत्र. ३०, पृ. २६.
- ५ आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं । —उत्तराध्ययन अ. ३०, गा. ३३
- ६ (क) व्यावृत्तभावो वैयावृत्यं धर्मसाधनार्थं अन्नादिदानमित्यर्थः ।  
—स्थानाङ्ग ५।३।५११, टी. प. ३४६  
(ख) व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्यं भक्तादिभिरुपष्टम्भः ।  
—स्थानाङ्ग ३।३।१८८, टी. प. १४५  
(ग) वेआवच्चे त्ति—वैयावृत्यं भक्तपानादिभिरुपष्टम्भः ।  
—औपपातिक टी. पृ. ८१
- (घ) भगवती २५।७, पृ. २८०  
(ङ) व्यावृत्तभावो वैयावृत्यम् उचित आहारादि सम्पादनम् ।  
—उत्तराध्ययन ३०।३३; बृहद्वृत्ति प. ६०८  
(च) व्यावृत्तभावो वैयावृत्यं । —आवश्यकहारिभद्रीयावृत्ति प. ११९
- ७ दब्बेण भावेण वा जं अप्पणो परस्स वा ।  
उवकार करणं तं, सव्वं वेयावच्चं ॥ —निशीथचूर्णि ४।३७५
- ८ व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् । वैयावृत्यं यावानुप-  
ग्रहोज्योपि संयमिनां । —रत्नकरण्ड श्रावकाचार ११२

वैयावृत्य के दस प्रकार बताये हैं—१ आचार्य, २ उपाध्याय, ३ शैक्ष, ४ ग्लान, ५ तपस्वी, ६ स्थविर, ७ सार्धमिक, ८ कुल, ९ गण १० और संघ ।<sup>१</sup>

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर प्रभृति के प्रति हार्दिक श्रद्धा रखना, उनकी आज्ञा के अनुकूल प्रवृत्ति करना सेवा है । तपस्वी को तप में सहयोग प्रदान करना और नव दीक्षित श्रमण को श्रामण्य धर्म के विधानों से परिचित करना व सहर्धर्मियों को धर्मपथ पर अग्रसर करना, उनकी जीवन-विधि के प्रत्येक चरण में सहायता देना । कुल, गण, संघ के उत्कर्ष के लिए सतत सन्नद्ध रहना, रुग्ण व्यक्तियों को रोग के उपादानों से परिचित करना तथा औषधोपचार से स्वस्थ करना सेवा है । इनकी सेवा करने वाला श्रमण निर्ग्रथ ही महानिर्जरा और महापर्यवसान करता है ।<sup>१०</sup>

- १ वेयावच्चे दसविहे पण्णते तं जहा—आयरिय वेआवच्चे, उवज्जाय वेआवच्चे, सेहवेआवच्चे, गिलाणवेआवच्चे तपस्सि वेआवच्चे, थेरवेआवच्चे, साहम्मिअ वेआवच्चे, कुलवेआवच्चे गणवेआवच्चे, संघवेआवच्चे ।  
—भगवती श. २५, उद्दे. ७, सू. ८०२
- (ख) वेयावच्चरतिबहुले; वेयावच्चं दसविहं तं जहा आयरिय, उवज्जाते, थेर, तवस्सी, गिलाण सेहाणं । साहम्मिय, कुल, गण, संघसंगयं तमियं कायव्वं ॥१॥

—आवश्यकचूर्ण पृ. १३४

(ग) आवश्यक-हारिभद्रीयावृत्ति प. ११९

(घ) आवश्यक-मलयगिरिवृत्ति

(ङ) आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्

—तत्त्वार्थ सूत्र अ. ९, सू. २४

- १० पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ तं जहा-अगिलाए-आयरिय वेयावच्चं करेमाणे, एवं उवज्जाय वेयावच्चं थेर-वेयावच्चं, तवस्सि वेयावच्चं, गिलाण वेयावच्चं करेमाणे ।

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ तं जहा—अगिलाए सेहवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए कुलवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए गणवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए संघवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए साहम्मिय वेयावच्चं करेमाणे ।

—स्थानाङ्ग ५, सू. १३, उ. १

इस प्रकार अनेक प्रकार से वैयावृत्य की जा सकती है । भाष्यकार<sup>११</sup> व चूर्णिकार<sup>१२</sup> ने उसके तेरह प्रकार कहे हैं : १ भक्त, २ पान, ३ शय्या, ४ संस्तारक—आसन आदि प्रदान करना, क्षेत्र का प्रतिवेदन करना, पैरों का परिमार्जन करना, ग्लान-रोगी को औषध का लाभ देना, पथिकों के अनुग्रह के लिए व्यवस्था करना, राजादि के कोपभाजन बने हुए व्यक्तियों को निस्तार करना, शरीर-उपाधि आदि का संरक्षण करना, अतिचार विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेना, ग्लान को समाधि उत्पन्न करना, तथा अपने सहधार्मिकों को उच्चार-स्रवण आदि के पात्रों की व्यवस्था करना—ये सभी सेवा के विभिन्न प्रकार हैं ।

वैयावृत्य जैन श्रमण की साधना का प्रमुखतम अंग रहा है । स्वाध्याय भी उसकी साधना का अंग है पर स्वाध्याय से भी वैयावृत्य को प्रमुखता प्रदान की गई है । शिष्य प्रभात के पुण्य पलों में सर्वप्रथम वस्त्र-पात्रादि का प्रति-लेखन करता है और उसके पश्चात् गुरु के चरणारविन्दों में प्रणिपात कर नम्र निवेदन करता है कि गुरुदेव ! अब मुझे दिन में क्या करना चाहिए ? यदि आप श्री चाहें तो मुझे वैयावृत्य में संलग्न कर दीजिए या स्वाध्याय में । गुरु यदि उसे वैयावृत्य में नियुक्त कर देता है तो वह ग्लानि भाव का परित्याग कर सेवा करता है ।<sup>१३</sup> दिल लगाकर वैयावृत्य करता है ।

जैन संस्कृति का श्रमण छह कारणों से आहार ग्रहण करता है, उसमें दूसरा

<sup>११</sup> भत्ते पाणे सयणासणे य पडिलेह पाय मच्छिमद्धाने राया तेणे दण्डगोहे गेलण मत्ते य ।  
—व्यवहार भाष्य.

<sup>१२</sup> तं एक्केक्कं तेरसविहं तं जहा—भत्ते (१) पाणे (२) आसण (३) पडिलेहा (४) पाद (५) अच्छि (६) भेसज्जा (७) अत्थाण (८) दुट्ठ (९) तेणे (१०) वंडग (११) गेलन्न (१२) मन्नंति (१३) ।  
—आवश्यकचूर्ण पृ. १३४

<sup>१३</sup> पुब्बिल्लंमि चउबभागे, आइच्चमि समुट्ठिए ।  
भंडयं पडिलेहिता, वंदिता य तओ गुरुं ॥  
पुच्छिज्जा पंजलिउडो, कि कायव्वं मए इहं ।  
इच्छं निओइअं भंते, वेयावच्चे व सज्जाए ॥  
वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वमगिलायओ ।

कारण वैयावृत्य है।<sup>१४</sup> आचार्य जिनसेन ने सेवा को तप का हृदय माना है। उन्होंने भगवान् श्री ऋषभदेव के पूर्वभवों का चित्रण करते हुए कहा— भगवान् श्री ऋषभदेव का जीव किसी व्रती पुरुष के रोगादि होने पर वह उन्हें अपने से अभिन्न मानता हुआ उसकी वैयावृत्य करता था क्योंकि वैयावृत्य तप का हृदय है।<sup>१५</sup>

सेवा के तीन प्रकार हैं : स्वसेवा, परसेवा और स्वपरसेवा। सेवा का अर्थ आज्ञा का पालन भी है। जब व्यक्ति आज्ञा की आराधना करता है तब वह अपनी सेवा करता है। आत्मगुणों का विकास करना स्वयं की सेवा करना है। दूसरे के आत्मगुणों का विकास करना, तथा उन्हें समाधि प्रदान करना परसेवा है। स्वयं के सद्गुणों का विकास कर मानसिक समाधि प्राप्त करना और दूसरों को समाधि देना यह स्वपरसेवा है।

मानसिक, वाचिक और कायिक दृष्टि से भी सेवा के तीन भेद किये<sup>१६</sup> गये हैं। परिहारविशुद्ध चारित्र की आराधना और साधना वैयावृत्य के बिना नहीं होती। परिहारविशुद्ध चारित्र की आराधना की विधि इस प्रकार है— नौ वर्ष की लघुवय वाले नौ बालक एक साथ संयम धर्म को स्वीकार करते हैं, और वे सभी नव पूर्व तक या दसवें पूर्व की तृतीय आचार वस्तु तक अध्ययन करते हैं, और उसके पश्चात् तीर्थकर या जिन्होंने परिहारविशुद्ध की साधना की है उनके सन्निकट परिहारविशुद्ध चारित्र को स्वीकार करते हैं। उनमें प्रथम चार श्रमण यदि उष्ण काल हुआ तो जघन्य चतुर्थ भक्त, मध्यम षष्ठ भक्त, और उत्कृष्ट अष्टम भक्त की आराधना करते हैं। यदि शीतकाल हुआ तो जघन्य षष्ठ भक्त, मध्यम अष्टम भक्त और उत्कृष्ट दशम भक्त की आराधना करते हैं। यदि वर्षा ऋतु हुई तो जघन्य अष्टम भक्त, मध्यम दशम भक्त और उत्कृष्ट द्वादश भक्त की तपश्चर्या करते हैं। उनमें से एक प्रवचन करता है और चार उन पाँचों की वैयावृत्य करते हैं। तप करने वाले निविसमानक कहलाते हैं और वैयावृत्य करने वाले निविष्टकायक

<sup>१४</sup> वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए संजमट्ठाए ।

तह पाणवत्तियाए, छट्ठ पुण धम्म चिन्ताए ॥ उत्तराध्ययन २६-३

<sup>१५</sup> स वैयावृत्यमातेन, व्रतस्थेष्वामयादिषु ।

अनात्मतरको भूत्वा, तपसो हृदयं हि तत् ॥ महापुराण ७२।११।२३३

<sup>१६</sup> तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासंति एवं वदासी ।



कहलाते हैं।<sup>१९</sup> इस प्रकार यह कार्य छह माह तक चलता है और उसके बाद चारों तप करने वाले वैयावृत्य करते और वैयावृत्य करने वाले तप करते हैं, और जो प्रवचन करने वाला है वह पूर्ववत् प्रवचन करता है। छह माह तक यह कार्यक्रम चलता है और उसके बाद प्रवचन करने वाला श्रमण तप करता है और सात उसकी वैयावृत्य करते हैं और एक प्रवचन करता है।<sup>२०</sup>

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर कडाई स्थविर का वर्णन आया है<sup>२१</sup> जो सेवा के जीते-जागते सजग प्रहरी होते हैं। संथारा और संलेखना करने वाले की सेवा करना उनके जीवन का प्रमुख ध्येय होता है। वे उनके साथ पर्वतादि पर जाते हैं। कहा जाता है—जब तक संथारे वाले का संथारा पूर्ण नहीं होता तब तक स्वयं भी आहारादि ग्रहण नहीं करते। वहीं रहते हैं।

सेवा करने वाले के लिए आगम साहित्य में विशेष विधान भी किया है।

कल्पसूत्र के समाचारी प्रकरण में बताया गया है कि वर्षावास स्थित श्रमण को गृहस्थ के घर एक बार भिक्षा के लिए जाना कल्पता है, पुनः पुनः नहीं, किन्तु आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, बालक, श्रमण आदि मुनि की सेवा हेतु एक बार ही नहीं अनेक बार गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए मुनि को जाना कल्पता है<sup>२२</sup>। सेवा की निर्मल भावना से वह जाता है, अपने स्वार्थ के लिए नहीं।

<sup>१९</sup> से किं तं परिहार विसुद्धिय चरित्तारिया ? परिहार विसुद्धि चरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा निव्विस्समाण परिहार विसुद्धिय चरित्तारिया । निव्विट्ठकाइय परिहार विसुद्धिय चरित्तारियाय । अमो० सेत्तं परिहार विसुद्धिय चरित्तारिया । पन्नवणा पद १, पृ. १.५ अमो०

<sup>२०</sup> पन्नवणा सूत्र पृ. १०२-१०३ अमोलख० ।

<sup>२१</sup> भगवती ।

(ख) अनुत्तरोपपातिक

(ग) तहास्वेहिं कडाईहिं थेरेहिं सद्धि बिउलं पव्वयं सणियं २ दूरुहइ दूरुहिन्ता तएणं ते थेरा भगवंतो मेहस्स अणगारस्स अगिलाए वेयावडियं करेति ।

<sup>२२</sup> वासावासं पज्जोसवियाणं निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगं गोयर-कालं गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पवेसित्तए वा, नऽन्नत्थ आयरियवेयावच्चेण वा उवज्झायवे० तवस्सिगिलाणवे० खुडएणं वा अवणजायएणं ।

कल्पसूत्र सू. २४० पृ. ७१—पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित ।

श्रमण संस्कृति के श्रमणों के लिए आचारांग<sup>२१</sup>, बृहत्कल्प<sup>२२</sup> और निशीथ<sup>२३</sup> आदि में यह स्पष्ट विधान है कि वह वर्षावास में जीवों की दया के लिए, एक स्थान पर स्थिर होकर संयम साधना करे। वर्षाऋतु में ग्रामानुग्राम विहार न करके पवनरहित स्थान में रहे। उसे ही प्रतिसंलीनता तप कहा है<sup>२४</sup> (वासासु पडिसंलीणा)। यदि श्रमण विधान को विस्मृत कर विहार करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त लगता है<sup>२५</sup>।

स्थानाङ्ग सूत्र में द्वितीय विधान यह है कि श्रमण वर्षावास में पाँच कारणों से विहार कर सकता है<sup>२६</sup>। उसमें एक कारण आचार्य-उपाध्याय प्रभृति की

२१ अन्भुगते खलु वासावासे अभिपवृद्धे बहवे पाणा बहुबीया संभूया बहवे बीया अणुब्भिन्ना अंतरा से मग्गा बहुपाणा, बहु बीया जाव स संताणगा अणोक्कंता पंथा णो विण्णायां मग्गा सेवं णच्चा णो गामाणुगामं दुईज्जेज्जा तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिएज्जा—आचारांग

२२ नो कप्पई निग्गंथाणं निग्गत्थिणं वा वासावासासु चरित्तए।

—बृहत्कल्प. उद्दे. १, सू. ३६. ३७

२३ निशीथ सूत्र उद्देश २, सू. ४१

२४ (क) सदा इंदियनोइंदियपरिसमल्लीणा विसेसेण सिणेह संघट्ट परिहरणत्थं णिवातलतणगता वासासु पडिसंलीणा गामाणुगामं दूतिज्जंति।

—दशवैकालिक चूर्णि—अगस्त्यसिंह।

(ख) वासासु पडिसंलीणा नाम आश्रयस्थिता इत्यर्थः तवविसेसेसु उज्जयंती, नो गामनगराइसु विहरंति।

दशवैका० जिनदास चूर्णि पृ. ११६

(ग) वर्षाकालेषु संलीना इत्येकाश्रयस्था भवन्ति।

दशवैकालिक हारिभद्रीयाटीका प. ११९

२५ जे भिक्खु पढमं पाउसंसि गामाणुगामं दुईज्जइ दुईज्जंतं वा साइज्जइ।

निशीथ. उद्दे. २, सू. ४१

२६ कप्पइ पंचहिं ठाणेहिं णिग्गंथाणं णिग्गंथीणं वा पढमपाउसंसि गामाणुगामं दुईज्जत्तए तं जहा-णाणट्ठयाए दंसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए, आयरिय उवज्झायाणं वा से वीसुंभेज्जा, आयरिय उवज्झायाणं वा बहिया वेयावच्च करणयाए।

—स्थानाङ्ग ५ स्थान।

सेवा के लिए बताया गया है। आचार्य-उपाध्याय आदि की सेवा के लिए वह बिहार करता है तो उसे प्रायश्चित्त नहीं लगता। किन्तु सेवा का प्रसंग आने पर भी यदि वह बिहार नहीं करता है तो प्रायश्चित्त का भागी होता है।

ओघनिर्युक्तिकार ने कहा है : जब साधक शारीरिक दृष्टि से सक्षम हो जाय, भिक्षा लेने के लिए जाने में समर्थ हो जाय तो सर्वप्रथम उस साधक का कर्तव्य है कि ग्लान साधु की मन लगाकर सेवा करे<sup>२७</sup>।

आगमों में विधान है कि चरण-करण में प्रमाद का आचरण करनेवाले, संयमीय सद्भाव से विमुख, पाश्वस्थ, अवसन्न, कुशील निग्रन्थों की भी कारण-वशात् सेवा की जा सकती है तो फिर विवेकी जितेन्द्रिय, मन, वचन और काय को गोपन करने वाले उद्यत विहारी, मोक्षाभिलाषी की तो हर प्रकार से सेवा करनी ही चाहिए<sup>२८</sup>।

वृद्धों की सेवा करने वाले पुरुषों को ही चारित्र आदि सम्पदा प्राप्त होती है और क्रोधादि कषायों से कलुषित मन निर्मल हो जाता है<sup>२९</sup>।

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् श्री महावीर ने कहा : ब्रह्म-वृत्य से जीव तीर्थंकर नामक गोत्र का बंधन करता है<sup>३०</sup>। केवलज्ञान तो हर कोई साधक प्राप्त कर सकता है पर तीर्थंकर बनने के लिए लम्बी साधना करनी पड़ती है। साधना के जितने भी पथ हैं उन सभी में सेवा का पथ सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि भर्तृहरि ने सेवाधर्म को परम गहन माना है और उन्होंने यह बताया है कि कंटकाकीर्ण महामार्ग पर चलते समय योगियों के कदम

<sup>२७</sup> कुज्जा, गिलाणगस्स उ पढमालिअ जाव बहिगमणं ।

—ओघनिर्युक्ति ग्लानद्वार.

<sup>२८</sup> जइ ता पासत्थोसण्ण कुसीलनिण्हवगाणंपि देसिअं करणं । चरणकरणालसाणं सबभाव परं मुहाणं च कि पुण जयणाकरणुज्जयाण दंतिदिआण गुत्ताणं संविग्गविहारीणं सबवपयत्तेणं कायव्वं—ओघनिर्युक्ति ग्लान ४८।४९.

<sup>२९</sup> वृद्धानुजीविनामेव, स्युश्चारित्रादि सम्पदः । भवत्यपि च मिल्लेपं मनः क्रोधादि कश्मलम्—ज्ञानार्णव प्र. १५, श्लो. १९ ।

<sup>३०</sup> वेयावच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वेयावच्चेणं जीवे तित्थयर-नाममोत्तं कम्मं निबंघइ । —उत्तराध्ययन अ. २९, प्र. ४३ ।

भी लड़खड़ा जाते हैं<sup>३१</sup> किन्तु यह भी विस्मरण नहीं होना चाहिए कि सुमनों की सुमधुर सुवास वहीं प्राप्त होती है । कहावत भी है “करे सेवा पावे मेवा ।”

अन्य सभी गुण प्रतिपाती हैं । वे मानव जीवन के प्रान्त तक ही साथ रहते हैं पर वैयावृत्य अप्रतिपाती हैं । वह दूसरे जन्म में भी साथ रहता है । संयम साधना से भ्रष्ट होने पर अथवा मृत्यु प्राप्त होने पर चारित्र्य की चारु-चन्द्रिका नष्ट हो जाती है । स्वाध्याय के अभाव में पठित शास्त्र भी विस्मृत के अंचल में छिप जाते हैं किन्तु वैयावृत्य से प्राप्त शुभ फल कभी भी नष्ट नहीं होता, वह अवश्य ही प्राप्त होता है<sup>३२</sup> ।

महात्मा बुद्ध ने कहा “एक तरफ मानव सौ वर्षों तक जंगल में अग्नि की परिचर्या करे और दूसरी तरफ पुण्यात्मा की क्षण भर भी सेवा करे वह सेवा सौ वर्ष तक किये गये यज्ञ से कहीं उत्तम है” ।<sup>३३</sup>

सदा वृद्ध महानुभावों की सेवा करनेवाले और अभिवादनशील पुरुष की आयु, सौन्दर्य, सुख और बल ये चार वस्तुएँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं ।<sup>३४</sup> अतः प्रत्येक साधक का कर्तव्य होना चाहिए कि वह श्रेष्ठ सद्गुणों के धारक महा-पुरुषों की निरन्तर सेवा करे ।

३१ सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः—नीतिशतक—भर्तृहरि ।

३२ वेयावच्चं निययं करेह, उत्तर गुणे धरिताणं  
सव्वं किल पडिवाई वेयावच्चं अपडिवाई  
पडिमग्गस्स मयस्स वा, नासइ चरणं सुयं अगुणणाए  
नहु वेयावच्चं चिय, सुहोदयं नासए कम्मं ।

—ओघनिर्युक्ति ५३२।५३३

३३ यश्च वर्षशतं जन्तुरग्निं परिचरेद् वने ।

एकं च भावितात्मानं मुहूर्त्तमपि पूजयेत् ॥

तदिदं पूजनं श्रेयो न तु वर्षशतं हुतम् ।

—धम्मपद संस्कृत छाया १०७

३४ अभिवादनशीलस्स, निच्चं वुड्ढापचायिनो ।

चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलम् ।

—धम्मपद १०९

(ख) अभिवादनशीलस्य, नित्यं वृद्धोपसेविनः ।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते, आर्युर्विद्या यशोबलम् ।

—मनुस्मृति अध्या. २।१२१

महापुरुषों के नाम और गोत्र को श्रवण करने से भी जब महान् फल उपलब्ध होता है तो उनकी सेवा करने का फल कहना ही क्या<sup>३४</sup> ?

गणधर गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् श्री महावीर ने कहा : महापुरुषों की पर्युपासना करने से शास्त्र-श्रवण करने को मिलता है । श्रवण करने से ज्ञान होता है । ज्ञान से विज्ञान होता है । विज्ञान से प्रत्याख्यान होता है । प्रत्याख्यान से संयम होता है । संयम से आश्रव का निरुन्धन होता है । आश्रव के निरुन्धन से तप होता है । तप से कर्मों का निर्जरण होता है । कर्मों के निर्जरण से अक्रिय अवस्था प्राप्त होती है और अक्रिय अवस्था से जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनता है ।<sup>३५</sup> इस प्रकार प्रस्तुत संवाद में मोक्ष का मूल कारण ही महापुरुषों की सेवा बतलाई गई है ।

हिन्दी साहित्य के एक प्रसिद्ध कवि ने भी कहा है कि सन्त की सेवा करने से प्रभु प्रसन्न होता है ।<sup>३७</sup>

३४ तं महाफलं खलु देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं थेराणं भगवंताणं णामगो-  
यस्सवि सवणयाए किमंग पुण अभिगमणवंदणनमंसणपडिपुच्छण-  
पज्जुवासणयाए ?

—भगवती सूत्र. शतक. २, उद्दे. ५

३५ तहारूवं भन्ते ! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किं फला  
पज्जुवासणा ?

गोयमा ! सवणफला.....सवणे णाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य  
संजये अण्हए तवे चैव, वोदाणे.....

—भगवती० शतक. २, उद्दे. ५

(ख) तहारूवं णं भन्ते ! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किं  
फला पज्जुवासणा ? सवणफला । से णं भन्ते ! सवणे किं फले ?  
णाणफले । सेणं भन्ते ! णाणे किं फले ? विन्नाण फले । एवमे-  
तेणं अभिलावेणं इमा गाहा अणुगंतव्वा—

सवणे णाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजये ।

अण्हए तवे चैव, वोदाणे अकिरियनिव्वाणे ॥

—स्थानांग ३।३।१९०

३७ सन्तन की भक्ति किया, प्रभु रिझत है आप ।

जांका बाल खेलाइये, तांका रीझे बाप ।

पर्युपासना से ज्ञान का अखण्ड प्रकाश प्राप्त होता है । आगम साहित्य के मन्थन करने वाला प्रत्येक जिज्ञासु यह जानता है कि गणधर गौतम और आर्य जम्बू प्रभृति विज्ञों को जो ज्ञान की निर्मल ज्योति प्राप्त हुई थी उसके अन्तस्तल में उनकी पर्युपासना प्रमुख थी ।<sup>३८</sup> पर्युपासना से प्राप्त ज्ञान ही शतशास्त्री के रूप में विस्तृत हो सकता है ।<sup>३९</sup>

ग्लान साधु की सेवा करना स्वयं भगवान् की सेवा करने के समान है । गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं कि क्या भगवन् ! जो एक मनुष्य ग्लान की सेवा कर रहा है वह धन्य है, अथवा जो कोई मनुष्य दर्शन के द्वारा आपको स्वीकार कर रहा है वह धन्य है ?

उत्तर में भगवान् कहते हैं कि गौतम ! जो मनुष्य ग्लान की सेवा कर रहा है वह धन्य है ।<sup>४०</sup>

गौतम पुनः जिज्ञासो व्यक्त करते हैं कि भगवन् ! यह आप किस हेतु से कह रहे हैं ।

समाधान की भाषा में भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! ग्लान की सेवा कर रहा है, वह दर्शन द्वारा मुझे स्वीकार कर रहा है । वह ग्लान की सेवा कर रहा है, क्योंकि अरिहन्त का दर्शन अरिहन्त की आज्ञा पालन करना है । अर्थात् अरिहन्त के दर्शन का सार है—अरिहन्त की आज्ञा का पालन करना । हे

<sup>३८</sup> जम्बू पज्जुवासति.....एवं वयासी —अनुत्तरोपपातिक वर्ग १  
(ख) भगवती

<sup>३९</sup> जे आयरियउवज्जायाणं, सुस्सूसा-वयणं करा ।

तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जल-सित्ता इव पायवा ॥

—दशबैकालिक अ. ९-२, गा. १२

<sup>४०</sup> कि भन्ते! जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने उदाहु जे तुमं दंसणेण पडि-  
वज्जइ ? गोयमा ! जे गिलाणं पडियरइ ।

—आवश्यक-हारिभद्रीयवृत्ति पृ० ६६१

(ख) जो गिलाणं पडियरइ सो मं पडियरइ ।

जो मं पडियरइ सो गिलाणं पडियरइ ॥

—ओघनिर्युक्ति सटीक गा. ६२

(ग) जे गिलाणं पडियरइ सो धण्णे ।

(घ) उत्तराध्ययन, सर्वार्थसिद्धि—परीषद् अध्ययन ।

गौतम ! मैंने ऐसा कहा कि जो मनुष्य ग्लान की सेवा कर रहा है वह दर्शन से मुझे स्वीकार कर रहा है ।<sup>४१</sup> वहीं मेरा सच्चा उपासक है ।

महात्मा बुद्ध ने भी एक रुग्ण भिक्षु को दर्द से छटपटाते हुए देखकर आनन्द आदि प्रधान श्रमणों को सम्बोधित कर कहा—आनन्द ! सर्वप्रथम रुग्ण भिक्षुओं की सेवा करो, जिसको मेरी सेवा करनी हो वह पीड़ितों की सेवा करे<sup>४२</sup> ।

एक पाश्चात्य विचारक ने भी कहा है “गरीबों की सेवा ईश्वर की सेवा है”<sup>४३</sup> । मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए वशिष्ठ ने कहा—जिस किसी भी तरह मन, वचन, काया से किसी की सेवा करना ईश्वर पूजा है<sup>४४</sup> । भगवान् का एक नाम “दीनबन्धु” है, “दीनानाथ” है । दीन और रुग्ण की सेवा करना साक्षात् जीवित भगवान् की सेवा करना है । नरसेवा ही नारायणसेवा है ।

प्रश्न हो सकता है कि जब सेवा का इतना गहरा महत्त्व है, और जैन साहित्य में भी सेवा का इतना उल्लेख है तो जैन संस्कृति के श्रमण को निःसंकोच भाव से सभी की सेवा करनी चाहिए, चाहे वह गृहस्थ हो या श्रमण हो ।

<sup>४१</sup> से केणट्ठेणं भन्ते एवं वुच्चइ ?

जे गिलाणं पडियरइ से मं दंसणेणं पडिवज्जइ जे मं दंसणेणं पडिवज्जइ से गिलाणं पडियरइत्ति । आणाकरणसारं खु अरहंताणं दंसणं, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ - जे गिलाणं पडियरइ से मं पडिवज्जइ, जे मं पडिवज्जइ से गिलाणं पडिवज्जइ ।

—आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति पृ० ६६१-६२

(ख) जो गिलाणं पडियरइ से मं जाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं पडिवज्जइ । —बृहत्कल्प सूत्र लघुभाष्य

(ग) देखिए, उत्तराध्ययन, सर्वार्थसिद्धि—परीषह अध्ययन ।

(घ) आपणाराइणं दंसणं खु जिणाणं ।

<sup>४२</sup> विनय पिटक ८।७।१। का सारांश ।

<sup>४३</sup> “Service of Poor is the Service of God”

<sup>४४</sup> येन केन प्रकारेण, यस्य कस्याऽपि देहिनः ।

संतोषं जनयेद् राम ! तदेवेश्वरपूजनम् ॥

उत्तर में निवेदन है कि जैन संस्कृति के श्रमण की अपनी मर्यादा है। मर्यादा में रहकर ही वह गृहस्थ की द्रव्यसेवा नहीं, किन्तु भावसेवा कर सकता है। द्रव्यसेवा से भी भावसेवा का अधिक महत्त्व है। यदि वह अपनी श्रमण मर्यादा को भूलकर गृहस्थ की द्रव्यसेवा करता है तो अनाचरित है<sup>४५</sup>।

श्रमण का कर्तव्य है कि वह अपने स्वधर्मों श्रमण की सेवा करे। ग्लान साधु की सेवा करने से तीर्थ की अनुवर्तना होती है और तीर्थकर देव की भक्ति होती है<sup>४६</sup>। आचार्य का भी कर्तव्य है कि सह-धर्मों के रोगी होने पर उसकी यथाशक्ति सेवा करे<sup>४७</sup>। जो संघ सेवा-शुश्रूषा की भावना को नहीं जानता है, उसे प्रश्रय नहीं देता है, जिस संघ के आचार्य अपने संघ के सदस्यों की सुख-दुःख निवारण की विधि नहीं जानते, रोगी की चिकित्सा से अनजान हैं वह संघ छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है<sup>४८</sup>।

संघ-समुत्कर्ष के लिए अपेक्षित है कि संघ का प्रत्येक सदस्य सेवानिष्ठ हो। नन्दिषेण<sup>४९</sup>, मेघकुमार<sup>५०</sup>, बाहु<sup>५१</sup> और सुबाहु मुनि<sup>५२</sup> की तरह उनके जीवन के कण-कण में सेवा की विराट् भावना अठखेलियां करती रहे। सेवा का प्रसंग उपस्थित होने पर सच्चे सेनानी की तरह सदा तत्पर रहे, अगले-बगले न झाँके। यदि वह झाँकता है तो प्रायश्चित्त का अधिकारी है।

<sup>४५</sup> गिहिणो वेयावडियं । — दशवैकालिक अ. ३, गा. ६

(ख) गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा ।

— दशवैकालिक दूसरी चूलिका गा. ९

<sup>४६</sup> तित्थानुसज्जणा खलु भत्ती य कया हवइ एव ।

— बृहत्कल्पसूत्र लघुभाष्य गा. १८७८

<sup>४७</sup> साहम्मियस्स गिलायमाणस्स अहाथामं वेयावच्चे अब्भुट्ठिता भवई ।

— दशाश्रुतस्कंध चतुर्थ दशा पृ० १३७—

आचार्य आत्माराम जी म.

<sup>४८</sup> उप्पणे गेलाणे जो गणधारी न जाणई तेगिच्छं । दीसं ततो विणासो सुह दुक्खा तेण उच्चता ।

— व्यवहार भाष्य ५।१२८

<sup>४९</sup> उत्तराध्ययन टीका—कथा

अज्जप्पभिईणं भते ! मम दो अच्छीणि मोत्तुणं अवसेसे काए समणाणं निगंथाणं निसट्ठे ।

<sup>५०</sup> ज्ञातृधर्म कथा अ. १



जो श्रमण, श्रमण की ग्लानता सुनकर भी उसकी उपेक्षा करता है तो उसे (सविस्तर) गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है<sup>५३</sup> । यदि कोई समर्थ साधु, बीमार साधु को छोड़कर अन्य किसी कार्य में लग जाय, बीमार की सार-संभाल न करे, तो उसे गुरु चौमासी का प्रायश्चित्त होता है<sup>५४</sup> ।

रास्ते में जाते हुए, गाँव में प्रवेश करते हुए, अथवा भिक्षा के लिए परि-भ्रमण करते हुए श्रमण को यदि किसी मुनि की ग्लानावस्था की सूचना प्राप्त होती है तो वह आवश्यक कार्य को छोड़कर उसके पास सेवा के लिए पहुँचे, यदि वह श्रमण नहीं पहुँचता है तो उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त लगता है<sup>५५</sup> ।

एक श्रमण विहार कर जा रहा है उसे जिस स्थान पर पहुँचना है, वहाँ यदि स्वगच्छ का अथवा परगच्छ का श्रमण ग्लान है, वहाँ पहुँचने पर मुझे उनकी शुश्रूषा करनी पड़ेगी, इस भावना से यदि वह श्रमण अरण्य में जाने के मार्ग को ग्रहण करता है अथवा जिस मार्ग से आया उसी मार्ग से पुनः लौटने का प्रयत्न करता है तो उस श्रमण को आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना आदि दोष लगते हैं<sup>५६</sup> । यदि कोई श्रमण अपने साथी की अस्वस्थता की उपेक्षा कर तपश्चरण करता है, शास्त्र-स्वाध्याय करता है तो वह भी प्रायश्चित्त

<sup>५१</sup> आवश्यकचूर्णि, पृ. १३३

(ख) आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति प. २१९

(ग) त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र, आचार्य हेमचन्द्र, १११९०६

<sup>५२</sup> आवश्यक चूर्णि पृ. १३३

(ख) आवश्यक निर्युक्ति यतय गिरिवृत्ति

(ग) आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति पृ. २१९

(ख) त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित्र १११९०६

<sup>५३</sup> जो उ उवेहं कुज्जा लग्गइ गुरुए सवित्थारे—बृहत्कल्पसूत्र भाष्य १८७५

<sup>५४</sup> जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा न गवेसइ, न गवेसंतं वा साइज्जइ...  
आवज्जइ चउम्मासीयं परिहारठाणं अणुग्घाइयं । —निशीथ १०।३३

<sup>५५</sup> सोऊण ऊ गिलाणं पंथे गामे य भिक्खवेलाए ।

जइ तुरियं नागच्छइ, लग्गइ गरुय स चउमासे ॥

बृहत्कल्पसूत्र भाष्य १८७२

<sup>५६</sup> सोऊण उ गिलाणं उम्मगं गच्छ पडिवहं वावि । मग्गाओ वा मगं संकमई आणमाईणि ।—बृहत्कल्पनिर्युक्ति भाष्य १८७१ ।

का अधिकारी है। संघ में रहने के अयोग्य है। सेवा से जी चुराना अपने आत्म-गुणों का हनन करना है और साथ ही संघीय मर्यादा की उपेक्षा करना है जो सबसे बड़ा पाप है।

दशाश्रुतस्कंध में महामोहनीय कर्म बन्धन के तीस प्रकार बताये हैं। अष्ट कर्म प्रकृतियों में मोहनीय कर्म सबसे अधिक पतन का कारण है। जब दुरध्यवसाय की तीव्रता एवं क्रूरता अधिक मात्रा में बढ़ जाती है तब महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है जिससे वह आत्मा उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागर तक संसार में परिभ्रमण करता है। प्रस्तुत तीस भेदों में बाईसवाँ और पच्चीसवाँ भेद सेवा न करने के संबंध में है। सेवा न करने से आत्मा का कितना भयंकर पतन होता है। वह इन कारणों से स्पष्ट है।

आचार्य और उपाध्याय की जो सम्यक् प्रकार से सेवा नहीं करता, वह अप्रतिपूजक और अहंकारी होने से महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।<sup>५७</sup>

जो शक्ति होने पर भी दूसरों की सेवा नहीं करता और कहता है कि इसने भी जब मैं रगण हुआ था, मेरी सेवा नहीं की थी, मैं क्यों करूँ, भले ही वह व्यथा से क्यों न व्यथित हो, मुझे क्या गर्ज है तो वह व्यक्ति भी महामोहनीय कर्म का बन्धन करता है।<sup>५८</sup>

आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने सेवा को ही भक्ति माना है। आचार्य के सम्मान में खड़े होना, दण्ड ग्रहण करना, पाँव पोंछना, आसन देना, आदि जो सेवा है वही भक्ति है।<sup>५९</sup> राजेन्द्रकोषकार ने सेवा का अर्थ भक्ति और विनय किया है।<sup>६०</sup> आचार्य उमास्वाति ने विनय के ज्ञान, दर्शन, चारित्र

<sup>५७</sup> आयरिय-उवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पइ ।

अप्पडिपूयए थद्वे, महामोहं पकुव्वइ ॥

—दशाश्रुतस्कंध ९ दशा, गा. २२

<sup>५८</sup> साहारणट्ठा जे केइ, गिलाणम्मि उवट्ठिए ।

पभू न कुणइ किच्चं, मज्झंपि से न कुव्वइ ॥

सद्वे नियडी-पप्णाणे, कलुसाउल चेषसे ।

अप्पणो य अबोहीए महामोहं पकुव्वइ ॥

—दशाश्रुतस्कंध ९ दशा, गा. २५।२६

<sup>५९</sup> अब्भुट्ठाण दंडग्गहण-पायपुच्छणासणप्पदाणगहणादीहि सेवा जा सा भत्ति—निशीथचूर्णि ।

<sup>६०</sup> सेवायां भक्तिर्विनियः । —राजेन्द्रकोष ।

और उपचार<sup>६१</sup> ये चार भेद किये हैं। उसमें उपचार का अर्थ आचार्य पूज्य-पाद ने आचार्य के पीछे चलना, सामने आने पर खड़ा होना, अंजलिबद्ध होकर नमस्कार करना किया है; जो सेवा ही है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार ने वैयावृत्य का अर्थ अतिथिसंविभाग व्रत किया है।<sup>६२</sup> आचार्य कौटिल्य ने वैयावृत्य का अर्थ परिचर्या किया है।<sup>६३</sup>

सेवा आत्म-साधना का अपूर्व उपाय है। नर से नारायण बनने की श्रेष्ठ कला है। सेवा करने वाला सेवा कराने वाले से महान् होता है। सिर सेव्य है और पैर सेवक है। सेव्य ही सेवक के चरणों में झुकता है। राम सेव्य थे और हनुमान सेवक। हनुमान के उपासनागृह प्रत्येक ग्राम में प्राप्त होते हैं किन्तु राम के सर्वत्र नहीं; हनुमान की यह लोकप्रियता सिद्ध करती है कि सेव्य से भी सेवक अधिक जन-मनप्रिय होता है। गांधीजी के शब्दों में “सेवा से बढ़कर व्यक्ति को द्रवित करने वाली और कोई चीज संसार में नहीं है”।<sup>६४</sup>

ज्ञातधर्मकथा का एक मधुर-प्रसंग है कि सेवामूर्ति पंथक मुनि की सेवा-निष्ठा ने शैलक राजर्षि के जीवन को आमूलचूल परिवर्तित कर दिया। सेवानिष्ठा के अभाव में अन्य शिष्यगण चाहने पर भी परिवर्तन नहीं कर सके थे।<sup>६५</sup>

आज सेवा का नारा एक किनारे से दूसरे किनारे तक गूँज रहा है। सेवकों की भरमार है, पर सेवा में जैसी चाहिए वैसी चमक पैदा नहीं हो रही है; इसका कारण है प्रेम और तन्मयता का अभाव। कर्तव्य की दृष्टि से जो सेवा की जाती है उसमें “करना” प्रमुख है। वह घड़ी के पूर्ण की तरह निरन्तर चलती रहती है पर उसमें स्नेह के झरने की मधुर झंकार नहीं होती।

६१ ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः । — तत्त्वार्थसूत्र अ. ९, सू. २३

६२ दानं वैयावृत्यं, धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार १११

६३ तद्वैयावृत्यकाराणामर्धदण्डः । व्याख्या—तद्वैयावृत्यकाराणां तस्य वैयावृत्यकाराः विशेषेण आसमन्तावर्तन्त इति । व्यावृत्तः परिचारकः तस्य कर्म वैयावृत्यं परिचर्या तत् कुर्वन्तः परिचारकाः तेषां अर्धदण्डः ।

—कौटिलीय अर्थशास्त्र अधिकरण २, प्रकरण २३।२०

६४ गांधीजी की सूक्तियाँ पृ. १११.

६५ णायधम्मकहाओ सू. १, अ. ५

प्रेम की जिस उर्वर भूमि से कर्तव्य का जन्म होता है वह कर्तव्य सेवा है। मां पुत्र की सेवा करती है, अपने आपको पुत्र की सेवा में विस्मृत कर देती है। भूख-प्यास सब कुछ भूल जाती है, एतदर्थ ही उसकी सेवा उच्च कोटि की गिनी गई है।

जिस सेवा में आत्म-भाव का अभाव होता है उसमें तोलने की बुद्धि रहती है और जहाँ पर तोल है वहाँ हृदय के माधुर्य का मोल कम हो जाता है, राग-द्वेष का जन्म होता है अतः भारतीय संस्कृति साधक के अन्तर्हृदय में सेवा की सही ज्योति जगाती है और सेवक के हृदय में आत्मार्पण की भव्य भावना पैदा करती है, अग्लान भाव से सेवा करने को उत्प्रेरित करती है।<sup>६६</sup>



<sup>६६</sup> गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चं करणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ ।

# अहिंसा की साधना

श्री गोपीचन्द धाड़ीवाल

सुख का साधन धर्म है और धर्म का अर्थ अहिंसा है। जिस हृद तक हम अहिंसा का पालन करेंगे उस हृद तक हम सुख के अधिकारी होंगे और केवल इस जीवन में ही नहीं किन्तु जन्म-जन्मांतरों में भी, अहिंसा हमारे सुख का कारण बनेगी। हमारा सुख हमारी आत्मा की शुद्धता पर निर्भर है यह तो हम अपने अनुभव से भी जानते हैं और इस शुद्धता का आधार अहिंसा ही है यह भी प्रकट ही है। हमारे चित्त में किसी के प्रति कुभाव नहीं होगा तो हमारे चित्त में शान्ति रहेगी और हमें सुख मिलेगा और यह कुभाव का न होना अहिंसा का ही अंग है इसलिये अहिंसा की साधना बड़े महत्व की बात है।

अहिंसा-पालन का अर्थ है हमारे कारण से अर्थात् हमारे किसी कार्य से किसी का अहित न हो। हम कोई भी कार्य करते समय, किसी के प्रति बुरी भावना न रखें और जो भी कार्य करें सावधानी से प्रमादरहित होकर करें, तो इतनी सावधानी रखने पर भी यदि किसी का अहित हो जाय तो उसका तो कोई उपाय ही नहीं, ऐसी दशा में हम हिंसा के दोषी नहीं हो सकते और यदि किसी के प्रति हमारे मन में बुरे भाव हैं या हम असावधानी से कोई क्रिया करते हैं तो इसमें सन्देह की गुंजाइश ही नहीं कि हम हिंसा के दोषी हो गए। इसलिये हिंसा की व्याख्या यही हुई कि राग-द्वेषादि कुभावों से या प्रमाद, असावधानी से किसी प्राणी का अहित करना हिंसा है। प्रसिद्ध ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा की व्याख्या इस प्रकार है—“प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा” अर्थात् प्रमत्त योग अर्थात् राग-द्वेष युक्त क्रिया और असावधान प्रवृत्ति से जो ‘प्राण’ वध हो वह हिंसा है। प्राण से अर्थ है—मन, वचन, काया, पाँच इन्द्रियाँ, आयुष्य और श्वासोच्छ्वास। इनमें से किसी का भी हमारे रागद्वेष-पूर्ण भावों द्वारा या असावधानी के कारण अहित होगा तो हम हिंसा के दोषी हैं। हिंसा का मुख्य अंग तो हमारा प्रमाद अर्थात् कुमनोभाव और असावधानी है, प्राणों का हनन तो उसका परिणाम मात्र है। यदि हमने प्रमाद किया और उसका परिणाम प्राण हनन नहीं हुआ तो भी हम हिंसा के दोषी

हो गये । हम तो दोषी उसी समय हो गये जब हमारे मन में कुभाव या असावधानी आई, जिससे हम अपनी आत्मा को तो कलुषित कर चुके, उसका हनन कर चुके, उस पर कर्मों का आवरण डाल कर अशुद्ध कर चुके, उसकी हिंसा तो कर चुके । इस प्रकार अहिंसा पालन का अर्थ हुआ—प्रमाद अर्थात् राग-द्वेषादि और असावधानी से मुक्त होना और यही है आत्मविकास, आत्मा को दूषणों से मुक्त करने का मार्ग । जिस हृद तक हम मुक्त होंगे उस हृद तक हम सुख की नींव डालेंगे । पूर्ण रूप से राग-द्वेष और असावधानी से मुक्त होने से हम पूर्ण अहिंसक, पूर्ण शाश्वत सुख के भागी अर्थात् परमात्म-पद के अधिकारी बनेंगे ।

राग-द्वेष आदि प्रमाद रहित होना आसान बात नहीं है । इस मार्ग पर चलने की योग्यता भी बिरलों में ही होती है । हम चारों तरफ लोगों के मनोभावों को देखकर यह आसानी से समझ सकते हैं कि इन दोषों से छूटना, इन्हें कम करना भी कितना कठिन है । हमारा स्वयं का अनुभव भी इसी बात की साक्षी देता है । रागद्वेष से छूटने के लिये, जिन शब्दों में सब ही कुभावनाओं—क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि का समावेश हो जाता है, शिक्षा की आवश्यकता है । पर जिस प्रकार अन्य शिक्षा भी प्रत्येक व्यक्ति ग्रहण नहीं कर सकता, उसी प्रकार इन कुभावनाओं, कषायों, कलुषित मनोभावों से मुक्त होने की शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिये ग्रहण कर मनोभावों को शुद्ध करना असंभव है । जो पात्र होते हैं वे ही ग्रहण कर लाभ उठा सकते हैं । ऐसा बालक जो उच्छृंखल है, पढ़ाई से घृणा करता है, मंदबुद्धि है, शिक्षकों के अनुशासन में नहीं रहता है और सहपाठियों के साथ प्रेम और सहयोग, मित्रता आदि से नहीं रह सकता, वह कदापि शिक्षा का पात्र नहीं । इसी प्रकार जिस व्यक्ति में तीव्र कुभाव या कषाय हैं वह अहिंसा की शिक्षा या साधना का पात्र नहीं हो सकता ।

अहिंसा की साधना आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास है इसलिये पूर्व जन्मों के कुकृत्यों के फलस्वरूप गाढ़े कर्मावरणों के कारण या कुसंस्कारों के कारण इस जन्म में उसकी आत्मा बहुत मलीन है तो वह आत्मविकास की शिक्षा का पात्र नहीं किन्तु वह तो दया का पात्र है । इसी प्रकार ऐसा व्यक्ति जिसमें मनुष्यत्व ही न हो, जो न समाज के प्रति अपना कोई कर्त्तव्य मानता हो, न अन्य मनुष्यों के प्रति, तब अन्य प्राणियों का तो कहना ही क्या, ऐसा व्यक्ति जो सद्व्यवहार तो समझता ही नहीं है किन्तु येन-केन प्रकारेण केवल

अपना स्वार्थ साधने में लगा रहता है या इन्द्रियभोगों में अंधा रहता है, जो किसी भी कार्य को कुकार्य नहीं समझता वह कदापि अहिंसा-साधना के उपदेश या शिक्षा-पात्र नहीं हो सकता। इस प्रकार नीच प्रकृति वाले, क्रूर स्वभावी, अज्ञानी, स्वार्थांध, महान् लोभी, दूसरों को दुःखी देखकर आनन्द मानने वाले, केवल भोग-विलास को ही जीवन का ध्येय मानने वाले व्यक्ति कभी अहिंसा-साधना के उपदेश के पात्र नहीं हो सकते हैं क्योंकि ये तो रागद्वेष में दबे हुए हैं। ऐसों को हम स्वार्थांध, कृष्णपक्षी या भवाभिनन्दी कह सकते हैं (यो० बि० ८५, ८७)।

इसके विपरीत अहिंसा-साधना के उपदेश का पात्र वही है जिसके संस्कार निर्मल हों, हृदय में उदारता, निर्लोभता, अदीनता, करुणा, सरलता, विवेक आदि सद्गुण हों (यो० बि० १७८), जो घोर कुकर्म न करे, संसार के भोगों में लिप्त या अंधा न हो गया हो तथा कौटुम्बिक, लौकिक, धार्मिक प्रवृत्तियों में न्याययुक्त मर्यादा का पालन करता हो (यो० श० १३)। ऐसे व्यक्तियों में राग-द्वेष हलके होते हैं। ऐसा व्यक्ति घोर कर्मों का बन्धन नहीं करेगा, आत्मा पर घोर कर्मों का आवरण या मैल नहीं लगाएगा। ऐसे व्यक्ति को अपुनर्बंधक कहते हैं। बंजर भूमि उपजाऊ नहीं होती, अच्छी ही हो सकती है इसी प्रकार भवाभिनन्दी अहिंसा-साधना का पात्र नहीं हो सकता है, केवल अपुनर्बंधक ही हो सकता है। इन सद्गुणों वाला व्यक्ति केवल आत्मोन्नति का ही पात्र नहीं है किन्तु वह इस जीवन में भी सर्वप्रिय, सर्वमान्य, शान्त और प्रसन्नचित्त, प्रभावशाली व्यक्तित्ववाला और जीवन में सफल और सुखी मनुष्य बनता है। अपुनर्बंधक की आत्मा निर्मल है, राग-द्वेष कम है पर उसकी निर्मलता में विकास की अभी बहुत गुंजाइश है, उसकी आत्मा जनसाधारण की अपेक्षा से शुद्ध, कम कर्म मैल वाली, बहुत गाढ़े कर्म पुद्गलों से मुक्त है पर यह शुद्धता वास्तव में बहुत अल्प है, अब भी उस व्यक्ति में बहुत कमजोरियाँ, दूषण और कर्म मैल अथवा मलीनता है और अहिंसा के साधक को तो बहुत आगे बढ़ना है। यह अपुनर्बंधकता एक प्रकार से प्राथमिक कक्षा है और उसे आगे बढ़ने के लिये अपने गुणों का विकास करना होगा, अपनी आत्मा को और निर्मल बनाना होगा, अपनी त्रुटियों को कम करना होगा। उसकी इस शिक्षा को, उसके अध्ययन-कर्म को प्राथमिक शिक्षा या पूर्वसेवा कहेंगे। इसके मुख्य चार भेद हैं।

प्रथम है गुरु-सेवा। गुरु से तात्पर्य है जो हमारे हितेच्छु ह, हमें सन्त मार्ग पर चलाना चाहते हैं, हम में अच्छे गुण उत्पन्न करना चाहते हैं, जिनसे हम को उन्नति की प्रेरणा मिलती है, जो हमारा आत्मबल बढ़ाते हैं, हमें बुराइयों से बचाते हैं, जिनके अनुभवों से हम लाभ उठा सकते हैं और जिनकी आज्ञा में रहकर, जिनका अनुकरण कर, हम अपने गुणों की, योग्यता की वृद्धि कर सकते हैं और जीवन को शान्त, सफल और सुखी बना सकते हैं। गुरुसेवा, जनसेवा और लोकसेवा का प्रशिक्षण है। ऐसे गुरु हैं हमारे माता-पिता, शिक्षक, वृद्ध लोग, त्यागी, संयमी, धर्मोपदेशक, समाज और देशसेवक आदि। इनका मान करना, इनकी आवश्यकता पूरी करना, इनकी सहायता करना आदि गुरुसेवा है।

दूसरा भेद है देवपूजा। देव से तात्पर्य है वे महान् आत्माएँ, पूज्य पुरुष जो अपने उत्तम गुणों और उपदेशों के कारण से देव रूप में पूजे जाते हैं और जिनकी पूजा से हमें भी प्रेरणा मिलती है अपना आचरण सुधारने की, सद्गुण उपार्जन करने की, आत्मबल प्राप्त करने की। ऐसे देव की पूजा करना अर्थात् उनके गुणों को याद करना और उन से प्रेरणा प्राप्त करना देवपूजा है। यहाँ गुरु और देव से किसी मत या सम्प्रदायविशेष के गुरु या देव से मतलब नहीं है क्योंकि अपुनर्बंधक की आत्मा इतनी विवेकपूर्ण नहीं है कि वह इन बातों को समझ सके (यो० बि० ११७, ११९)।

तीसरा भेद है सदाचार। इससे तात्पर्य है उन सब बातों से जिससे मनुष्य का चरित्र-गठन होता है, उसका जीवन सुमार्ग में ढलता है, आत्मबल बढ़ता है। इसे अंग्रेजी में Character building कहते हैं। यह संसार में सफलता की कुंजी है, यह है। परहित करना, अपने आश्रितों के हितों का ध्यान रखना, दीन, हीन, अशक्त, अपंगों की सहायता करना, उन्हें दान देना, जगत् में निन्दा हो ऐसे कार्य न करना, परनिन्दा न करना, सद्गुणियों की प्रशंसा करना, सत्य आचरण करना, अनीति से बचना, प्रमाद न करना, शूद्र व्यवहार रखना, दुखों से नहीं घबराना, दुखों का दृढ़ता से मुकाबला करना, सुख में अभिमान न करना, किसी देव या धर्म से द्वेष न रखना इत्यादि। ये सब गुण स्व-अनुशासन, आत्म-नियंत्रण से आते हैं। इन आत्मनियंत्रण के साधनों को तप कहते हैं। खाने-पीने में तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में स्वानुशासन से जीवन सदाचारी बनता है और इन्द्रियलोलुपता से तथा अन्य कुसंस्कारों से बचता है।



इसी उद्देश्य से तप किया जाता है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील और परिग्रह, धन, ऐश्वर्य पर मूर्च्छा कम करने के प्रयास किये जाते हैं । ये सब भी तप हैं ।

अन्तिम पूर्वसेवा सब से अधिक महत्व की वस्तु है । मोक्ष से अद्वेष जिसका तात्पर्य है । संत पुरुषों, त्यागियों के हितकारी बचनों को सुनने के सदा भाव रखना, ऐसे लोगों से सम्बन्ध रखना, ऐसा साहित्य पढ़ना जिससे उत्तम गुणों की वृद्धि हो, कुमार्गों और दुर्व्यसनों से बचा जावे और सद्गुणों की वृद्धि हो । यह अन्तःकरण की शुद्धि का उपाय है इसलिये अन्य सब पूर्वसेवा के उपायों से भी श्रेष्ठ है (यो० बि० १४५, १४७, १४९) । ये सब राग-द्वेषादि दोष और प्रमाद कम करने के मार्ग हैं ।

यह ध्यान देने की बात है कि पूर्वसेवा में जो बातें बताई गई हैं उनका किसी धर्म या सम्प्रदायविशेष से सम्बन्ध नहीं है, किन्तु वे सब लोकहितकारी बात हैं, लोक-धर्म हैं, लौकिक व्यवहार हैं (यो० श० २५) । अपुनर्बंधक व्यक्ति प्रथम कक्षा का व्यक्ति है इसलिये उसमें धर्म के गूढ़ तत्त्वों के समझने की योग्यता नहीं होती, सत्य, देव, गुरु या धर्म को पहचानने की या समझने की योग्यता नहीं होती । पर यह पूर्वसेवा इन बातों को समझाने तथा आगे की कक्षा के लिये योग्यता, नींव तैयार करती है (यो० श० २६), पूर्वसेवा से जो गुण प्राप्त होते हैं वे हमारे सांसारिक जीवन की सफलता की भी कुंजी हैं, वह आजीविका उपार्जन की तथा अन्य जीवनक्षेत्रों में उन्नति करने की भी योग्यता बढ़ाती है ।

पूर्वसेवा चारित्र-गठन की शिक्षा है । वह ऐसे व्यक्ति तैयार करती है जो संसार के लिये एक अमूल्य निधि है । संसार में जो भी अच्छे विचार, अच्छे आचार, और शान्ति और सुख हैं वे ऐसे ही व्यक्तियों पर आधारित हैं न कि धन-कुबेरों या योद्धाओं या राजनैतिक नेताओं पर ।

पूर्व सेवा से मनुष्य में और भी अनेक गुण प्रगट होते हैं जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होते हैं और उसमें आगे की कक्षा की योग्यता उत्पन्न करते हैं । वह सन्मार्ग पर चलने से नहीं उकताता । (अखेदभावना) वह शुभ कार्यों को लगन से करता है । उसमें उन्हें किसी प्रकार कर-कराकर पिंड छुड़ाने की (उद्वेग) भावना नहीं रहती, न ऐसे कार्य करते समय मन डाँवाडोल (क्षेप) होने लगता है । अपनी आत्मा को विकसित करने और अपने संस्कार सुधारने की चेष्टा से उकताता (उत्थान) नहीं है । अपने सद्बिचारों

और सद्गुणों को दृढ़ करने के लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील और मूर्च्छा त्याग के व्रत लेता है और संतोष और हृदय की शुद्धि को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। उसमें आत्मोन्नति के सत्-साहित्य पढ़ने की, और स्वाध्याय करने की रुचि बढ़ती है। चित्त में स्थिरता आती है, सत्य तत्त्व जानने की और समझने की रुचि होती है जिससे वह जन्म-मरण, सुख-दुःख के कारणों को, संसार की विडम्बनाओं को समझ सके। इस प्रकार उसके लिये आगे का मार्ग प्रशस्त और सुलभ होता है (यो० दृ० स०)।

वह जो भी कुछ करता है कीर्ति के लिये नहीं करता, न इस जन्म में या परलोक में ऐश्वर्य या भोग मिले इस दृष्टि से, न लोगों के देखा-देखी किन्तु वह यह सब कुछ अपना कर्त्तव्य समझ कर और ऊपर बढ़ने की साधना समझ कर करता है। ऐसे पुरुष की जगत् में कीर्ति होना स्वाभाविक है पर न तो उस कीर्ति से वह फूलेगा और न कीर्ति बढ़ाने की चेष्टा करेगा। ऐसे व्यक्ति का संसार आदर करेगा, उसे प्रत्येक कार्य में सहयोग देगा, इससे उसे अपने कार्य में सफलता मिलेगी इसका वह जरा भी अभिमान नहीं करेगा। शुभ कार्यों का पुनर्जन्म में भी शुभ फल मिलना स्वाभाविक है पर उसका ध्येय तो इससे भी ऊँचा उठना है, इसलिये वह जो कुछ भी करेगा फल की आशा की अपेक्षा किये बिना ही करेगा। इस प्रकार उसकी चित्तवृत्ति शान्त रहेगी, राग-द्वेषादि दोष कम होंगे, बुद्धि निर्मल रहेगी, विवेक जाग्रत रहेगा और दृष्टिकोण सन्तुलित रहेगा, अहिंसा की साधना की पात्रता बढ़ेगी, आगे चलकर उसके मन में प्रकृति के विषय में, लोक के विषय में, मनुष्यों की प्रकृतियों के विषय में, सुख-दुःख प्राप्ति में भेद के विषय में, मनुष्यों के स्वभाव के विषय में अनेक प्रश्न उठेंगे, उसे सब कुछ जानने की जिज्ञासा होगी, देश और विदेशों के वर्तमान तथा भूतकाल के विद्वानों के इन विषयों में विचार जानने-समझने की इच्छा उत्पन्न होगी, सत्य क्या है, सत्य मार्ग क्या है, मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है, उसे क्या करना चाहिये इस पर वह विचार करने लगेगा, वह एक प्रकार से विचारक बनेगा। इसी प्रकार से शुद्ध मन से आग्रह रहित होकर वह विचार करेगा तो इन सब प्रश्नों के हल अर्थात् धर्म सुनने की इच्छा जाग्रत होगी, धर्म के प्रति प्रीति, अपने प्रश्नों, शंकाओं का समाधान हो इस दृष्टि से गुरु से सम्बन्ध और उसकी सेवा, आदर्श पूर्णात्मा अर्थात् देव के प्रति भक्ति उत्पन्न होगी (यो० श० १४)। इसी तरह बिकास करते हुए उसमें कुछ विशेष गुण उत्पन्न हो जायेंगे।

(१) उसमें राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्गुण मन्द होते जाते हैं (प्रशम) ।

(२) उसे विश्वास हो जाता है कि आत्मा पर कुभावनाओं और अनुचित प्रवृत्ति के कारण जो मूल चिपक जाता है, कर्म आश्रय और बंध हो जाता है उसे हटाने के लिये शुद्धाचरण, संवर और निर्जरा करके आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है । उसे प्रेरणा मिलती है कि यदि वह भी इस मार्ग पर चलेगा तो इस जन्म में नहीं तो भविष्य में किसी जन्म में वह अवश्य शुद्ध आत्मा, परमात्मा बन सकता है (संवेग) ।

(३) अपने अनुभव से उसे विश्वास हो जाता है कि संसार में सुख-दुःख का जोड़ा है, अमिश्रित सुख नहीं है । अमिश्रित शाश्वत सुख आत्मा का धर्म है, स्वभाव है । उसके दुःख से मिश्रित होने का कारण आत्मा से अन्य वस्तुएँ अर्थात् शरीर और अन्य सांसारिक वस्तुएँ हैं । इसलिये उस आंशिक सुख के पीछे पागल होकर वह अपना ध्येय शाश्वत सुख से न हटा ले (निर्वेद) ।

(४) अच्छी तरह समझ कर सोच-विचार करने से वह नीचे लिखे परिणामों पर पहुँचेगा और उन पर अपनी मान्यता दृढ़ कर लेगा : (क) देव वही है जो राग-द्वेषादि दुर्गुणों से पूर्ण मुक्त, और अनन्त ज्ञान दर्शन, वीर्य और आनन्द स्वरूप है । (ख) धर्म वही है जो मनुष्य को मुक्ति का, पूर्ण सुख का, पूर्णता का, परमात्मपद प्राप्त करने का मार्ग बतलाये । जो यह बतलावे कि संसार में मूल वस्तुएँ—तत्त्व क्या हैं, जीव भी एक तत्त्व है उसका अन्य तत्त्वों से क्या सम्बन्ध है, उनमें पारस्परिक क्या क्रिया-प्रतिक्रिया होती है और क्यों होती है और जीव अर्थात् आत्मा किस प्रकार अन्य विजातीय पदार्थों से पीछा छुड़ाकर शुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है । (ग) जो ऊपर बताये हुए देव की पहचान कराते हैं, देव अर्थात् परमात्मा के बताये मार्ग पर ज्ञान और श्रद्धापूर्वक चारित्र्य का पालन करते हैं और संसार को उसी मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं जिससे लोग मोक्ष के मार्ग पर चलें, वे ही गुरु हैं ( आस्तिक्य ) ।

(५) दौन-दुःखी प्राणियों पर अनुकम्पा, दया करना ।

उपरोक्त पाँच लक्षणों वाला व्यक्ति स्वभावतः ही (१) सब प्राणियों के प्रति भ्रंश रखेगा, (२) सब प्राणियों के प्रति करुणा रखेगा, (३) गुणी व्यक्तियों को देख कर प्रमुदित होगा—प्रमोद करेगा और (४) दुर्गुणियों पर और उन पर भी जो उसका भी अहित सोचते हैं, अपमान करते हैं उनके प्रति भी क्रोध

या द्वेष नहीं करेगा किन्तु माध्यस्थ्य भाव, उपेक्षा भाव रखेगा और यह सोचेगा कि उसके पूर्व कर्मों के कारण वह ऐसा करता है, अपनी आत्मा का पतन करता है इसलिये दया का पात्र है ।

जो व्यक्ति अपने विचारों को इस प्रकार ढाल लेता है और उन विचारों के अनुसार जीवन ढालने की चेष्टा करता है उसका व्यक्तित्व एक विशेष प्रकार का बन जाता है—(१) चित्त डाँवाडोल नहीं रहता किन्तु चित्त में स्थिरता आ जाती है । (२) भगवान् के मन्दिरादि देव स्थानों को शुभ प्रेरणा का स्रोत समझ कर उनकी सम्भाल रखने का ध्यान रखता है । (३) चारित्र्य को दृढ़ और समुज्ज्वल बनाने वाले, आत्मबल और मन को शक्ति देने वाले, सुविचारों की प्रेरणा देने वाले, आत्मोन्नति कर आत्मा को शुद्ध बनाने और अशुद्धियों से बचाने के विचार पैदा करने वाले, सत्य मार्ग बताने वाले, सत्-साहित्य-ग्रंथों, पुस्तकों का अध्ययन, श्रवण और मनन कर अपनी आत्मा की किस प्रकार उन्नति करे यह सोचता है । (४) अपने विचारों और आचरणों को शुद्ध रखने और शुभ बनाने के हेतु देव-गुरु की भक्ति करता है और (५) किस प्रकार अन्य लोग भी भगवान् के उपदेशों से, उनकी जीवन-कथा से अपना जीवन उन्नत करने की प्रेरणा पावें ऐसे उपाय अर्थात् प्रभावना करता है ।

ऐसे व्यक्ति का ज्ञान ऊपरी ज्ञान नहीं होता है किन्तु अच्छी तरह से समझ-पूर्वक प्राप्त किया हुआ होता है । उसकी श्रद्धा ऊपरी, दिखावटी या अंध श्रद्धा नहीं होती किन्तु सोच-विचार कर अनुभव पर आधारित सत्य श्रद्धा होती है इसलिये उसमें शंका की गुंजाइश नहीं होती । उसका ध्येय अपने आपको आध्यात्मिक क्षेत्र में उठाना, आत्मा को शुद्ध और उन्नत करना होता है, उसे अन्य किसी संसारी लाभ की आकांक्षा ही नहीं होती । उसको कभी यह सन्देह ही नहीं होता कि वह जिस मार्ग पर चल रहा है वह उसे गन्तव्य स्थान पर ले जायगा या नहीं । वह आत्म-विश्वास के साथ प्रगति करता रहता है । उसे विचिकित्सा नहीं होती । उसमें इतना मनोबल है कि वह किसी स्वार्थ से या खुशामद या डर से या लोगों को खुश करने या अन्य किसी कारण से धूर्तों, पाखंडियों की तारीफ करके कुमार्ग की प्रोत्साहन नहीं देता (उपमिति भ० प्र० क०, पृ० १४७-१४८) ।

ये योग्यताएँ रूढ़ि रूप में क्रियाएँ करने से यानी रूढ़ि रूप में देव-गुरु की पूजा करने से या कीर्ति के लिए, धन के दिखावे के लिये आडम्बरपूर्वक प्रदर्शन करने से नहीं आतीं । ये तो रागद्वेष बढ़ाने के उपाय हैं । इनसे अभिमान और

ईर्ष्या बढ़ाना है। इस योग्यता के लिए, एक ओर तो पूर्व भवों के बांधे हुए कर्मों का हलकापन और तीव्र कलुषित कुभावनाएँ उत्पन्न करनेवाले कर्मों का छुटकारा और दूसरी तरफ सत्य पर आधारित ज्ञान, श्रद्धा पर आधारित पुरुषार्थ चाहिए। ऐसा होने से मनुष्य उस भारी दीवार को तोड़ता है, उस गांठ को भेदन करता है यानी ग्रंथी भेद करता है जो उसे अन्तिम ध्येय प्राप्त करने में बाधक है और सम्यग् दर्शन प्राप्त करता है। यह आध्यात्मिक महाविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा पास करना है जब कि अपुनर्बंधक होना प्राथमिक कक्षा में प्रवेश करना है। वह मोक्षमार्ग का पथिक है, सम्यग्दर्शी है, योगी है।

यह कक्षा इतनी महत्वपूर्ण होने पर भी बहुत नीची है। इस कक्षा में प्रवेश पाया हुआ व्यक्ति अपने विचारों के अनुकूल आचरण नहीं कर सकता। वह अहिंसा को, आत्मा के स्वभाव को, मोक्ष को और उसके महत्व को, उसके बाधक और सहायक तत्त्वों को अच्छी तरह समझने लग गया है पर संयम की शक्ति का अभी प्रादुर्भाव नहीं हुआ है, अभी त्यागशक्ति विकसित नहीं हुई है, अभी व्रत अंगीकार करने की योग्यता, पात्रता प्राप्त नहीं हुई है, वह अविरत सम्यग्दर्शी है।

उसने प्राथमिक कक्षा में यद्यपि अहिंसादि पांचों नियमों का पालन किया है पर वह लोकहित और लौकिक दृष्टि से ही या रूढ़ि के रूप में ही किया है, क्योंकि उस समय उसे आध्यात्मिक दृष्टि का ज्ञान ही नहीं था। पर अब उसकी आध्यात्मिक दृष्टि जाग्रत हुई है इसलिये उन व्रतों को दूसरी दृष्टि से देखता है। पूर्व शिक्षा के कारण उन्हें पालने में यद्यपि कठिनाई नहीं होती, पर अब उसका दृष्टिकोण दूसरा है, इसलिये उनके पालन में विशेष प्रकार के पुरुषार्थ की आवश्यकता है। यदि उसमें पुरुषार्थ नहीं है तो वह इस कक्षा तक नहीं पहुँच सकता। इसलिये उसे अब उन व्रतों को, अपनी आत्मा को पवित्र करने, रागद्वेष, प्रमाद से छुटकारा पाने, अपने कर्म मूल को हटाने या कम करने या नये कर्म का बंधन रोकने के साधन रूप में देखना है और इस दृष्टि से उन्हें पालन करने योग्य पुरुषार्थ उपाजन करने की वह चेष्टा करता है। इसलिये वह योग्य गुरु के पास जाता है। गुरु उसकी योग्यता का मूल्यांकन करता है। गुरु महान् त्यागी और स्व-पर आत्म-कल्याणकारी है। उसमें अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिये भक्त बनाने की लालसा नहीं है इसलिये वह अयोग्य, अपात्र को व्रत नहीं दिलाता क्योंकि वह जानता है कि अपात्र को व्रत दिलाने से सच्चे व्रतधारियों की अवहेलना होती है, अयोग्य व्रत लेने वाले का स्वयं का पतन

होता है तथा वह दूसरों का भी पतन करता है और धर्म की भी हीनता होती है (यो० श० ३७) । वह तब ही व्रत दिलाता है जब उसे यह संतोष हो जाता है कि जो सम्यक्त्व के गुण ऊपर बताये गये हैं वे उसमें वास्तव में हैं और फिर भी यह दृष्टि सामने रखना है कि यह नियम पूर्ण निवृत्ति के उद्देश्य से नहीं है किन्तु निवृत्ति की शिक्षा के रूप में है और यह ध्यान रखना है कि वह नियम उसके गृहस्थ के कर्तव्य पालन में बाधक न हो और आसानी से पालन हो सके (यो० श० २८) । वह रोग के अनुसार औषधि देता है (यो० श० २४), पात्रता के अनुसार व्रत दिलाता है ।

व्रत लेने वाला भी यह ध्यान रखता है कि यह व्रत उसके अपने गृहस्थी सम्बन्धी परिवार, समाज, देश और संसार के प्रति उत्तरदायित्व निभाने और कर्तव्य पालन में बाधक न हो किन्तु सहायक हो । अपने कुटुम्ब का भरण पोषण, स्वास्थ्य और शिक्षा का, उनको सुसंस्कार देने का, आत्म सम्मान के साथ आदर्श गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की योग्यता पूर्ण बनाने का, अपने पैरों पर खड़ा होने के योग्य बनाने का उसका कर्तव्य है । धर्म के नाम पर इन कर्तव्यों से विमुख होना हिंसा है, अहिंसा की आत्मोद्धार की साधना नहीं । व्रतों का उद्देश्य यही है कि आजीविका इस प्रकार उपार्जन करे तथा अन्य उत्तरदायित्व इस प्रकार निभावे कि सत्य मार्ग में, नैतिकता में बाधा न आवे और वह निर्दोष आहार और रहन-सहन रखे और धर्म में प्रेरणा मिले ऐसी और इस दृष्टि से धार्मिक क्रियाएँ करे, धनादि देता रहे इत्यादि (यो० श० ३१-३२) ।

वह व्यक्ति सदा सद्बिचारों में अपना मन लगायेगा, शुभ प्रेरणा मिले ऐसे तीर्थ स्थानों की यात्रा करेगा, धर्म का असली तात्त्विक रूप बताये ऐसे शास्त्रों का अध्ययन करेगा और निजी कमजोरियों का, दूषणों का, सूक्ष्मता-पूर्वक निरीक्षण करता रहेगा और आगे बढ़ने की अपनी योग्यता बढ़ायेगा (यो० श० ५२) ।

इस प्रकार पात्रता प्राप्त करके वह अणुव्रत लेता है । वे व्रत इस प्रकार हैं :

१ अहिंसाणुव्रत अथवा स्थूल प्राणातिपातविरमणव्रत । इस व्रत की इतनी ही मर्यादा है कि किसी निरपराधी स्थूल (अर्थात् सूक्ष्म जल, वायु, पेड़, पौधे इत्यादि प्राणियों के अतिरिक्त) प्राणी को संकल्प करके अर्थात् मारने के इरादे से न मारे या कष्ट दे । यह व्रत किसी भी प्रकार गृहस्थ को अपने जीवन-यापन में अथवा उत्तरदायित्व निभाने में बाधक नहीं हो सकता है ।

२ स्थूल मृषावादविरमणव्रत अर्थात् कटु अहितकारी वचन का त्याग तथा लोकनिन्दनीय असत्य का त्याग ।

३ स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत अर्थात् पराई वस्तु न ले, दूसरों का अधिकार न छीने, अपने पास से दूसरों को कुछ देने का उत्तरदायित्व हो उससे विमुख न हो इत्यादि अर्थात् राज्य द्वारा दंडनीय, लोक द्वारा निन्दनीय, अनैतिक और अन्य के अधिकार हरण जैसे कृत्यों का त्याग ।

४ स्थूल ब्रह्मचर्य व्रत । जनसाधारण के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन असंभव है । साथ ही इस क्षेत्र में मर्यादा नहीं रहने से मनुष्य विवेक-हीन, इन्द्रियों का दास होकर समाज के लिये एक शाप और महान् अनिष्ट का एक कारण बन जाता है इसलिये इस व्रत द्वारा यह मर्यादा-व्रत स्वीकार किया जाता है कि अपनी विवाहिता पत्नी के सिवाय (अथवा अपने विवाहित पति के सिवाय) अन्य सब स्त्रियों (अथवा पुरुषों) के प्रति पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करे ।

५ स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि की सीमा रखी जाय । गृहस्थ को अपनी उदरपूर्ति तथा अन्य उत्तरदायित्व निभाने के लिए धन की आवश्यकता होती है और समय के परिवर्तन के साथ इस आवश्यकता का रूप तथा उसका परिमाण भी बदलता है और संचय करना भी समय और परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक होता है । इस व्रत का आशय यह नहीं कि मनुष्य शक्ति होते हुए भी धर्म के नाम पर अकर्मण्य या पुरुषार्थ हीन होकर बंठ जाय या परमुखापेक्षी बन जाय या अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण, स्वास्थ्य-शिक्षा के उत्तरदायित्व से विमुख हो जाय । इस व्रत का उद्देश्य मनुष्य की लोभप्रवृत्ति पर नियंत्रण रखना है, वह प्रवृत्ति जो धन को साधन नहीं मानकर जीवन का मुख्य ध्येय मान लेती है और उसे प्राप्त करने में अन्य के अधिकारों को, स्वामित्व को भी हड़प करते नहीं चूकती । ऐसे लोग सदा दूसरों को शोषण करना, अनीति आदि कुप्रवृत्तियों को अंगीकार कर, राज्य-दंड की भी परवाह न कर धन एकत्र करना, संचय करना इत्यादि अपना जीवनक्रम बना लेते हैं । इन कुप्रवृत्तियों के प्रति नियंत्रण रखना अपनी आत्मा को पतन से बचाने के लिये तथा समाज के हित, सुख, शान्ति के लिये आवश्यक है । इस दृष्टि से मनुष्य अपने धनसंपत्ति आदि का परिमाण—सीमा बांधता है जिससे उसकी मूर्च्छा कम हो, मूर्च्छा पर नियंत्रण रहे ।

अहिंसा के नियम के इस प्रकार पाँच भेद इस दृष्टि से किये गये हैं जिससे मनुष्य के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को वह प्रभावित करे ।

योग्यता प्राप्त कर इन व्रतों को अंगीकार करने वाला मनुष्य अपने आध्यात्मिक विकास में एक कक्षा ऊपर चढ़ जाता है और देशविरत सम्यग्दर्शी हो जाता है। हम उस व्यक्ति की बात नहीं कर रहे हैं जो शोभा या लोक दिखावे के लिये व्रत अंगीकार करता है बल्कि हम उस व्यक्ति के विषय में विचार कर रहे हैं जो अध्यात्म मार्ग पर, आगे बढ़ने को उत्सुक है, अपनी आत्मा को नये कर्माश्रव से बचाकर और पुराने कर्मावरण से छुटकारा पाकर राग-द्वेष और प्रमाद छोड़ने की शिक्षा पाकर अहिंसा की और आत्मकल्याण की साधना और पूर्ण सुख प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है। ऐसा व्यक्ति जिसकी उन व्रतों के पालन द्वारा योग्यता बढ़ती है वह और ऊपर की कक्षा यानी सर्व-विरति प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह अपनी सीमाओं की मर्यादाओं को क्रमशः अपनी परिस्थितियों के अनुसार घटाता जाता है। इस मार्ग में उसे सहायता देने के लिये तीन गुणव्रतों की योजना की गई है। वे इस प्रकार हैं—(१) दिशापरिमाण व्रत—अणुव्रत स्वीकार करके उसने परिग्रहपरिमाण व्रत लिया है। परिग्रह कम करने का एक उपाय है कार्यक्षेत्र की सीमा कम करना। इस गुणव्रत द्वारा वह सीमा—हृद नियत करता है कि उस हृद के बाहर वह किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं करेगा। यहाँ एक और बात विचारणीय है। जो व्रत लेता है वह विवेकी पुरुष है और उसे देश-काल का ज्ञान है और वह व्रत जड़ रूप में नहीं किन्तु एक सद् उद्देश्य से ग्रहण करता है। वह जानता है कि किसी समय भारत ऐसे गाँवों का देश था जिसका प्रत्येक गाँव आत्मनिर्भर था, उस समय अपने कार्यक्षेत्र सीमित करने का एक अर्थ होता था और आज विज्ञान ने दुनियाँ को ऐसा रूप दे दिया है कि कोई भी गाँव या नगर या देश आत्मनिर्भर या स्वाश्रयी नहीं है। ऐसी स्थिति में कार्यक्षेत्र सीमित नहीं किया जा सकता। पर इन बातों को ध्यान में रखते हुए, वह अन्य प्रकार से, परिग्रह को सीमित करने की दृष्टि से अपने कार्यक्षेत्र को अन्य रीति से सीमित करेगा जिससे उद्देश्य की भी पूर्ति हो सके और आजीविका में और गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियाँ निभाने में भी बाधा न आवे।

(२) भोगोपभोगविरमण व्रत—मनुष्य प्रवृत्ति करता है इसलिये कि वह पैसा कमाये और उसे सुखभोग में लगाये। अगर वह इस भोगोपभोग की प्रवृत्ति पर नियंत्रण करता है तो उसी हृद तक उसे धन की आवश्यकता कम हो जाती है और परिग्रह की सीमा कम करने में सहायता मिलती है अर्थात् उसके जीवन में सादगी आ जाती है और आत्म-विकास में सहायता मिलती



हैं, असत्य और चोरी इत्यादि के अवसर भी कम होते जाते हैं। यद्यपि पहले व्रत में निरपराधी स्थूल प्राणियों को इरादापूर्वक नहीं मारने का ही व्रत है पर उसकी प्रवृत्तियों से स्वाभाविक सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा तो अनिवार्य होती ही है। अब उस व्यक्ति को और ऊपर उठना है तो उन प्रवृत्तियों में भी वह विचार करेगा कि किन-किन प्रवृत्तियों को छोड़ा जाय। इस विचार में भी वह पुस्तकों में लिखे ऐसे कार्यों—कर्मादान का जड़ रूप से पालन नहीं करेगा, पर आज की स्थिति में किन-किन के विषय में व्रत लेना चाहिये यह विवेक-पूर्वक निश्चय करना चाहिए जिससे उद्देश्य की पूर्ति भी हो और आजीविका में तथा अपनी गृहस्थ की जिम्मेवारी निभाने में भी बाधा न आवे। उदाहरणार्थ इस विषय की पुस्तकों में गाड़ी बनाना या भाड़े देना कर्मादान होने से त्याज्य बताया गया है इससे कोई इनके सम्बन्ध में व्रत लेकर समझे कि उसने एक शुभ कार्य किया तो उन व्रतों का मजाक करना होगा। आज तो इतने उद्योग-धन्धे, कल-कारखाने हो रहे हैं कि गाड़ी बनाने इत्यादि की अपेक्षा हिंसा उनमें कहीं अधिक है। साथ ही जीवन भी ऐसा हो गया है कि उनके बिना कोई काम ही नहीं चल सकता। इसलिये इस व्रत का पुराने जमाने के रूप में पालन नहीं हो सकता इस बात को स्वीकार नहीं करना वास्तविकता से आँखें बन्द करना है और बिना पात्रता प्राप्त किये उनका पालन करना आजीविका में बाधक होता है जो कि व्रतों के उद्देश्य के विपरीत है।

यदि देश-काल की दृष्टि से हम विचार करें तो आज की परिस्थिति में भी एक बड़े महत्त्वपूर्ण ढंग से इन दोनों व्रतों का पालन ही सकता है जो असली रूप में उनके उद्देश्य की पूर्ति कर आत्मोन्नति में और अहिंसा की साधना में बहुत सहायक हो सकता है। मनुष्य को चाहिये कि अपनी संतान को इस प्रकार की शिक्षा दे और योग्यता बढ़ाये कि वह शीघ्रातिशीघ्र गृहस्थ की जिम्मेवारियाँ सफलतापूर्वक निभा सके और उसका भार कम कर सके। जब ऐसी स्थिति आ जाय तो वह अपने आप को सब जिम्मेवारियों से, बिना किसी के अहित के भय के दूर करके और फिर इन व्रतों द्वारा निवृत्तिमार्ग पर अग्रसर हो अपने आप को ऐसे कार्यों में लगाये कि अपना समय निठल्लेपन में या आलस्य में पुरा न होकर स्व-परहित में लगे। वह इस प्रकार से अपनी प्रवृत्तियों की सीमा कम करते हुए सर्वविरति कक्षा की ओर बढ़ता रहता है।

(३) अनर्थदंडविरमण व्रत—यह तीसरा गुणव्रत है। इसका अर्थ है अनावश्यक हिंसा का त्याग करना, चाहे उसका त्याग पहले व्रतानुसार आवश्यक

न हो। पहले व्रत का बन्धन स्थूल प्राणियों की हिंसा के त्याग तक ही है पर आगे की कक्षा की ओर प्रगति करने वाला हिंसा के अवसर घटाता जाय इस उद्देश्य से ये सब गुणव्रत योजित किये गये। जिस व्यक्ति को दृष्टि में रखकर हम यह सब विवेचन कर रहे हैं वह जानता है कि अहिंसा की साधना के लिए संयम आवश्यक है। इसी दृष्टि से १२ व्रतों की योजना की गई है जिनमें से हम ८ व्रतों का विचार कर चुके हैं। शेष के चार व्रत शिक्षाव्रत हैं। उनका उद्देश्य वह प्रशिक्षण देना है जिससे राग, द्वेष, मोह, प्रमाद इत्यादि दूषणों की कमी होकर अहिंसा के पूर्ण रूप से पालन की योग्यता बढ़ती जाय :

(१) प्रथम शिक्षाव्रत है सामायिक व्रत अर्थात् सुख में, दुःख में, इष्ट में, अनिष्ट में समता रखना, मन में उद्वेग नहीं आने देना। कोई हमारा हित करे या अहित करे दोनों के प्रति हम समभाव, एक-सा भाव रखें, न एक से प्रसन्न हों और न दूसरे से अप्रसन्न। यह महान् कठिन बात अवश्य है, पर इसका महत्त्व भी महान् है। जिस व्यक्ति में यह शक्ति या गुण आ जाता है उसको दुःख होने का तो कोई अवसर ही नहीं आ सकता। एक महान् लेखक ने सत्य कहा है कि स्वर्गसुख और मोक्षसुख तो परोक्ष सुख है पर समता का सुख तो प्रत्यक्ष है और न पराधीन है और न उसके लिए कुछ खर्च करना पड़ता है (श्री मुनिमुन्दर)। यह समता प्राप्त करना सर्वविरत का ध्येय है। उसका व्रत यावत् जीव, पूरे जीवन के लिए है। पर देशविरत यानी श्रावक प्रशिक्षण पाने के लिए इसको अल्प समय, केवल ४८ मिनट के लिए स्वीकार करता है। यह श्रावक का प्रथम शिक्षाव्रत सामायिक व्रत है।

(२) दूसरा शिक्षाव्रत - देशावकाशिक व्रत है। इसके द्वारा अपनी प्रवृत्तियों को थोड़े समय के लिए सीमित किया जाता है।

(३) तीसरा पोषध व्रत है। यह सामायिक व्रत का विस्तृत रूप है। सामायिक व्रत ४८ मिनट के लिए होता है और यह २४ घंटे या ४८ घंटे के लिए होता है।

(४) चौथा अतिथि-संविभाग व्रत है। साधु-साधवियों की, तथा देशविरतियों की अपने-अपने आचारों के नियमों के अनुकूल, दान या दया समझ कर नहीं किन्तु कर्तव्य समझकर भक्तिपूर्वक आवश्यकताएँ पूरी करना। अहिंसा के साधकों के प्रति वात्सल्य भाव रखना।

इस प्रकार देशविरती गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों द्वारा सर्वविरती की योग्यता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और इस चेष्टा में अपने गृहस्थी के कर्तव्यों में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं आने देता। वह अपना ध्येय कुप्रवृत्तियों को छोड़कर पूर्ण अहिंसक बनना, सदा अपनी दृष्टि के सामने रखता है।

वह सर्वव्रती बनना चाहता है पर केवल नाम के लिये नहीं, केवल भेषधारी नहीं। वह सर्वविरति का वास्तविक अर्थ जानता है। वह है शुद्ध संयम का पालन करना। जिसका अर्थ शरीर को निरर्थक कष्ट देना नहीं है, किन्तु आत्मा को दोषों से बचाने के लिये इन्द्रियों को वश में करना है। उसे मन-वचन-काया को पूर्णरूप से अनुशासन में रखना है, उन्हें पराधीन नहीं होने देना है। मन को हर प्रकार के भोग की इच्छा से मुक्त रखना है। केवल बाहरी वस्तुओं पौदगलिक परिग्रह की ही नहीं किन्तु आभ्यन्तरिक परिग्रह रागद्वेष, यानी मोह आदि की भी गांठें काटना है। चित्त को प्रमादरहित रख कर इन सब बातों के द्वारा पूर्ण अहिंसक बनकर मोक्ष प्राप्त करना है। वह जानता है कि सर्वविरति का अर्थ मन को आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर करना और शरीर का महत्व त्याग देना है। उसे ध्यान के अभ्यास द्वारा मन पर काबू लाना होता है, शुद्ध तप द्वारा कर्मों पर विजय प्राप्त करना होता है। उसे मन-वचन-काया से पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना होता है। उसे न हर्ष होता है न शोक और वह प्रमादरहित होता है (यशो० नवपदपूजा)। तब ही वह अहिंसा की साधना में उत्तीर्ण हो सकता है।

देशविरती यह सब जानता है इसीलिये अपने गुणों के विकास पर ध्यान देता है। वह आत्म-निरीक्षण करता है कि जिस भूमिका अथवा कक्षा में वह अपने आपको समझता है उसकी अपेक्षा से उसमें कोई कमी तो नहीं है, यदि है तो उन्हें दूर करने की चेष्टा करता है। मनुष्य को अपनी त्रुटियाँ खुद को नजर नहीं आती इसलिये वह जानने की चेष्टा करता है कि दूसरे लोग उसके विषय में क्या विचार रखते हैं (यो० श० ३९)।

अपनी योग्यताएँ और दृढ़ता बढ़ाने के लिये स्वयं से ऊंची कक्षा वालों और समान कक्षा वालों से परिचय और सम्बन्ध बढ़ाता है, उनके गुणों का मान करता है और अपने कर्त्तव्यपालन की ओर बार-बार ध्यान देता है और स्वयं में जो त्रुटियाँ नजर आती हैं उनका निवारण करता है (यो० श० ४४, ४५)।

देशविरती इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करता हुआ अपनी त्रुटियों को हटाता हुआ, ऊपर की श्रेणी सर्वविरति के महत्त्वपूर्ण आचार-विचार का मनन करता हुआ, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों द्वारा रागद्वेष, लोभ, मोह आदि कुप्रवृत्तियों के त्याग के सोपान द्वारा ऊपर चढ़ता है। इस प्रकार उसमें वैराग्य का प्रादुर्भाव होता है। वह नीचे की कक्षाओं में से योग्यतापूर्वक सफल होता हुआ और उत्तीर्ण होता हुआ देशविरति-कक्षा में आया था न कि किसी की सिफारिश या और कोई ऐसे कारणों से इसलिये उसका वैराग्य वास्तविक योग्यता, ज्ञान, वह भी सम्यग् ज्ञान पर आधारित है। वह आत्मा और पुद्गल के पारस्परिक सम्बन्ध और प्रतिक्रिया को और उनके परिणामों को समझता है। वह आत्मा के मूल स्वभाव और गुणों को और उनको प्राप्त करने के मार्ग को जानता है। उसका वैराग्य इसी ज्ञान पर आधारित है न कि किसी निजी कमजोरी पर। संसार के संघर्ष से कायर की तरह भाग कर या सामयिक घटनाओं से श्मशानी वैराग्य के कारण उत्पन्न हुई संसार से अरुचि पर उसका वैराग्य आधारित नहीं है न इष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट वस्तु के संयोग पर दुःखित होकर आर्त्तध्यान पर आधारित है। उसका वैराग्य सत्य ज्ञान, सम्यग्ज्ञान पर आधारित है (आ० प० १०५, १०६ विवेचन) जो उसे आगे बढ़ने का बल देता है।

वास्तविक ज्ञानाधारित वैराग्य की प्रेरणा से वह आगे की कक्षा में प्रवेश करने के लिये आत्मशिक्षा द्वारा योग्यता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और विशेष गुणों को उपाजन करने के लिये प्रयत्नशील होता है। वे गुण हैं— (१) धृति अर्थात् धीरज और क्षमा (२) आत्मिक और धार्मिक क्षमा (३) सुखासिका अर्थात् वास्तविक अमिश्रित सुख की इच्छा (४) विविदशा अर्थात् जिज्ञासा (५) विज्ञप्ति अर्थात् चारित्र्य के नियमादि की जानकारी की इच्छा (६) मेधा, बुद्धि और विचार-शक्ति (७) अनुप्रेक्षा—संसार में वास्तविकता पर चिन्तन (८) मंत्री (९) कृष्णा (१०) मुदिता अर्थात् प्रमोद भावना, अन्य के गुणों पर उल्लास (११) उपेक्षा अर्थात् किसी के बुरे, अप्रिय आचरण देखकर चित्त में उद्वेग नहीं होने देना (उपमिति पृ० १२५९)।

इन गुणों की प्राप्ति होने पर वह सद्गुरु के पास पंचमहाव्रत अंगीकार करने की प्रार्थना करता है। सद्गुरु यहाँ गुणी है। उसे शिष्यमंडल, परिवार बढ़ाने की लालसा नहीं है। उसकी केवल स्व-परकल्याण की भावना

है। वह योग्यता और पात्रता बिना किसी को व्रत नहीं दिलाता। वह व्यक्ति की परीक्षा लेकर पात्रता होने पर ही पंच महाव्रत दिलाकर उसे सर्वविरति की ऊँची श्रेणी में भरती करता है। यह अहिंसा की साधना की अन्तिम सीढ़ी है। यह व्रत इस प्रकार है : (१) सर्व प्राणातिपातविरमण—सब प्रकार के प्राणी वध से दूर रहना (२) मृषावादत्याग—सदा हित-मित-सत्य वचन बोलना (३) अदत्तादानत्याग—जो वस्तु निज की नहीं है वह बिना अधिकारी के दिये ग्रहण नहीं करना (४) मैथुनविरमण—स्त्री-संग का सर्वथा त्याग (५) परिग्रहविरति—घरबार, माल, मिलिकयत के स्वामित्व का त्याग, यहाँ तक कि अपने शरीर पर ही ममत्व नहीं रखना (उपमिति पृ० १०७३)। इस प्रकार वह अहिंसा की साधना की सबसे ऊँची कक्षा में प्रवेश पाता है। वह अपनी साधना चालू रखता है। वह जानता है कि व्रत अंगीकार करने से ही उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो जाती है। उसने अभी वैराग्य ही प्राप्त किया है, बीतराग अवस्था नहीं। वह अवस्था सब साधना का अन्तिम ध्येय है जिसकी प्राप्ति से ही वह पूर्ण अहिंसा और पूर्ण शाश्वत सुख का भागी बन सकता है। वह अवस्था प्राप्त करना ही पंच महाव्रत स्वीकार कर सर्वविरत साधु या श्रमण बनने का ध्येय है। इसलिये वह अपने गुरु के अधीन रहकर गुरुकुल में निवास करता है, विनय और नियमपूर्वक वहाँ के कार्य-क्रम के अनुसार अपने कर्तव्यों का शान्तिपूर्वक पालन करता है, सदा सोचता रहता है कि गुरु के वचन-पालन में ही उसका श्रेय है। वह निर्दोष संवर और त्याग का पालन करता है। शुद्ध भिक्षावृत्ति से, बिना किसी पर भार रूप हुए, शुद्ध जीवन यापन करता है। शास्त्र-विधि के अनुसार स्वाध्याय करता है और मृत्यु आदि संकटों का साधना करने को तैयार रहता है (यो० श० ३३-३५)।

इस प्रकार कठोर अनुशासन-संयम और तप—का पालन करता है। क्योंकि किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति बिना अनुशासन के असंभव है।

यह है अहिंसा की साधना, आत्मविकास और मोक्ष की साधना, जीवन के प्रतिपल में सुख और सफलता देनेवाली साधना। यही है धर्म-साधना। ज्यों-ज्यों इस मार्ग पर प्रगति करेंगे, हमारे दुःख के कारण और सुख की बाधाएँ दूर होती जाएँगी। और यदि दुःखों से घबराकर या सुखों में अन्धे होकर, हम अपने ध्येय, पूर्ण सुख और पूर्ण अहिंसा को भूल न जायँ और पथभ्रष्ट

न हो जायें तो हम अपना ध्येय अवश्य प्राप्त कर लेंगे और उस ध्येय की प्राप्ति में हमारी मृत्यु भी बाधक नहीं होगी। मृत्यु का जोर पुद्गल पर चलता है, अपुद्गल आत्मा पर नहीं।<sup>१</sup>

<sup>१</sup>कोष्ठक में दिए ग्रन्थों के संकेत :—

यो० बि०—आचार्य हरिभद्र सूरि—योगबिन्दु श्लोक, विवेचक श्री ऋद्धिसागर सूरि।

यो० श०—आचार्य हरिभद्र सूरि—योगशतक के सूत्र, विवेचनकर्ता डा० इन्दुकला झवेरी।

उपमिति—उपमिति-भव-प्रपंच-कथा—गुजराती अनुवाद, मो० गि० कापड़िया।

आ० प०—आनन्दघनपद नं० १०५-१०६ के विवेचनकर्ता—मो० गि० कापड़िया।

यशो० नवपदपूजा—यशोविजयकृत नवपदपूजा।

यो० दू० स०—योगदृष्टिसमुच्चय।

# आचारांग के कुछ महत्वपूर्ण शब्द

साध्वी श्री कनकप्रभा

शब्दकोश भाषा की समृद्धि है। हमारे व्यवहार में जितने नवीन शब्द आते हैं, भाषा का सौन्दर्य उतना ही अधिक निखरता है। किन्तु केवल सौन्दर्य की दृष्टि से नए-नए शब्दों को प्रयोग में लाना उचित नहीं है। क्योंकि शब्द-प्रयोग की पहली शर्त है अर्थ की संगति। शब्द-रचना अर्थ के निकट नहीं है तो नवीनतम प्रयोग भी भाषा का सौन्दर्य नहीं बढ़ा सकते।

भाषा से भावों को अभिव्यक्ति मिलती है किन्तु किस शब्द से कौन-सा अर्थ व्यंजित होता है, यह सब प्रयोक्ता पर निर्भर है। आज हम एक शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग करते हैं, वही शब्द कालान्तर में दूसरे अर्थ का वाचक हो सकता है। अतीत में जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता था, आज वह उस वाच्य को अभिव्यंजित नहीं कर सकता। क्योंकि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निश्चित नहीं है।

यदि प्रत्येक शब्द निश्चित अर्थ को ही अभिव्यक्ति देता तो भाषा-शास्त्र की बहुत सी उलझनें सुलझ जातीं। किन्तु अब तक यह स्थिति नहीं बनी है और सम्भवतः कभी बननेवाली भी नहीं है। क्योंकि अर्थ प्राकट्य का हेतु है—संकेत और सहज सामर्थ्य। सहज सामर्थ्य की दृष्टि से शब्द पूर्णतः सम्पन्न हैं किन्तु संकेत स्थायी नहीं होते। संकेत के अभाव में शब्द सुनने पर भी अर्थबोध नहीं हो सकता।

शब्द के मूल अर्थ को समझने के लिए उसे देश, काल और परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखना आवश्यक है। क्योंकि सन्दर्भ के समझे बिना वर्तमान के आधार पर अतीत का ज्ञान हो नहीं सकता।

आगम साहित्य जैन दर्शन की प्रतिष्ठा है। अर्धमागधी भाषा और ढाई हजार वर्ष का लम्बा समय, इन दो कारणों ने आगमों पर अनेक परत चढ़ा दिए। आज बहुत बड़ी अपेक्षा है कि आगम-रहस्य को अनावृत करने के लिए उन आवरणों को दूर किया जाए।

ऊपर की परतों को उखेड़कर मूल तक पहुँचने के लिए अनेक प्रतिभाएं प्रयत्नशील हैं। शोध-संस्थानों की बढ़ती हुई संख्या इसका प्रमाण है। तैरा-पंथ संघ का शोध-कक्ष तो इस दिशा की ओर और भी अधिक जागरूक है। फलतः आचार्य श्री तुलसी के कुशल नेतृत्व में आगम-संशोधन का काम तीव्र गति से चल रहा है।

आचारांग सूत्र सब आगमों में प्रधान आगम है। द्वादशांगी में इसका स्थान पहला है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से यह सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण और प्राचीनतम है। छोटे-छोटे वाक्य और अर्थ-गौरव साहित्यिक दृष्टि से उपादेय हैं। आधुनिक भाषा-शास्त्री इस शैली को प्रकाश में ला रहे हैं। इसीलिए तो आज हिन्दी साहित्य में प्रलम्ब वाक्यों की अपेक्षा संक्षिप्त वाक्य-रचना को विशेष स्थान प्राप्त है।

इस आगम में कुछ ऐसे शब्द आए हैं जो आज हमारे प्रयोग में तो आते हैं, किन्तु उनका अर्थ बहुत-कुछ बदला हुआ है। हमें प्रस्तुत निबन्ध में इस आगम के प्रथम अध्ययन के कुछ शब्दों पर विचार करना है।

आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम है—शस्त्र-परिज्ञा। इसमें छह काय के जीवों का अस्तित्व-बोध है तथा इनकी हिंसा, हिंसा के निमित्त और हिंसा से होनेवाले अहित की परिचर्चा है।

परिज्ञा शब्द जैन दर्शन का विशेष शब्द है। इसके दो भेद किए गए हैं—ज्ञानपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा। ज्ञानपरिज्ञा से वस्तु का बोध होता है और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से हेय का भान होता है।

यदि हम परिज्ञा शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर सोचें तो ये दो भेद आवश्यक नहीं लगते। क्योंकि 'परि=समन्तात् ज्ञायते अनया इति परिज्ञा' अर्थात् अच्छी प्रकार से जानने का नाम है परिज्ञा। जो व्यक्ति जिस तथ्य को सम्यक् प्रकार से जान लेता है, उसके स्वीकार और अस्वीकार का विवेक उसे स्वतः प्राप्त हो जाता है।

अतः हमें मानना होगा कि ज्ञ और प्रत्याख्यान ये दो भेद नहीं करने पर भी परिज्ञा शब्द में विधि और निषेध अन्तर्निहित है।

शस्त्र-परिज्ञा शब्द में निःशस्त्रीकरण की प्रतिध्वनि है। राजनीतिक क्षेत्रों में निःशस्त्रीकरण की चर्चा आज हो रही है किन्तु जैनआगमों में आज से ढाई



हजार वर्ष पूर्व ही निःशस्त्रीकरण को शान्ति के प्रमुख साधन के रूप में स्वीकार किया गया ।

एक शब्द है संज्ञा । इसका अर्थ है नाम । जैसे इस पुस्तक की संज्ञा क्या है ? अमुक व्यक्ति की संज्ञा क्या है ? आचारांग में इस शब्द का वाच्य है 'पहचान': इह मेगोसि णो सण्णा भवइ तंजहा पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि—अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि...

कुछ व्यक्तियों को यह पहचान नहीं होती कि मैं पूर्व दिशा से आया हूँ—दक्षिण दिशा से आया हूँ—अथवा अनुदिशाओं से आया हूँ ।

यहाँ व्यक्ति के सामने अनेक दिशाएँ हैं । किन्तु वह इनमें से किसी एक का निश्चय नहीं कर सकता । क्योंकि उसे दिशाओं की पहचान नहीं है ।

एक शब्द है 'संयत' । साधक के लिए संयत होना नितान्त अपेक्षित है । संयत शब्द की वर्तमान अर्थ-परम्परा हमें दमन के निकट ले जाकर छोड़ देती है । दमन यानी मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण । किन्तु संयत शब्द की निष्पत्ति 'यमु' धातु से होती है, जिसका अर्थ है उपरत होना । दमन और उपरम में जो अन्तर है, वह स्पष्ट है, फिर भी यह शब्द दमन अर्थ में रूढ़ हो गया है । वह रूढ़ता व्युत्पत्ति को समझने से ही मिट सकती है ।

आज्ञा शब्द 'ज्ञा' धातु से निष्पन्न है । 'आ समन्तात् ज्ञायते अनया इति आज्ञा' । वर्तमान में यह शब्द आदेश अर्थ में व्यवहृत होता है, परन्तु इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है सम्यग्ज्ञान । 'आणाए मामगं धम्मं' इस सूक्त में आदेश मेरा धर्म है की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान मेरा धर्म है, यह अर्थ अधिक संगत लगता है ।

'प्रमत्त' शब्द आलसी व्यक्ति के लिए रूढ़ है किन्तु आगमकालीन प्रयोग के अनुसार इसका अर्थ है आत्म-विमुख । आलस्य और आत्म-विमुखता दो चीजें हैं । एक आत्मोन्मुख व्यक्ति भी कारणवश अलसा जाता है किन्तु वह आत्म-विस्मृत नहीं हो सकता ।

शब्द निष्पत्ति का आधार है 'मदी' धातु, इसका अर्थ है 'ग्लेपन' । ग्लै धातु हर्षक्षय अर्थ में प्रयुक्त है । विषाद का कारण भी आत्म-विस्मृति ही है । अतः प्रमत्त शब्द को आत्म-विमुख वाच्य के ही अधिक निकट मानना चाहिए ।

‘विनय’ की निष्पत्ति ‘णीन्’ धातु से होती है । हम विनय शब्द का प्रयोग करते हैं, शिष्टता अथवा उपचार के लिए । किन्तु ‘आरम्भमाण विणयं वयंति’ इस संदर्भ में विनय का अर्थ है आचार । कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो हिंसा को भी अपना आचार मानते हैं । इस मान्यता का आधार है तत्कालीन क्रिया-काण्ड । यज्ञ और पशुबलि को स्पष्ट रूप से धर्म का परिधान पहना देने के कारण हिंसात्मक कार्य भी उनका आचार बन गया ।

दशवैकालिक सूत्र में एक प्रसंग है—‘एवं धम्मस्स विणयों मूलं’ धर्म का मूल विनय है । यदि हम यहां विनय का अर्थ शिष्टता करें तो वह धर्म का मूल कैसे हो सकता है ? अनेक विशिष्ट अभिग्रहधारी मुनि शिष्टता से बहुत ऊपर उठ जाते हैं, तो क्या हम यह मान लें कि वे धर्म नहीं कर रहे हैं ? इन सब संदर्भों के आधार पर विनय का अर्थ आचार ही अधिक संगत लगता है ।

इसी प्रकार आवर्त, अर्चा, नियाग, प्रतिपन्न, ऋजुकृत आदि शब्द भी विवेचनीय हैं ।

इस अर्थ-वैचित्र्य को देखते हुए हमें शब्द-प्रयोग करते समय विशेष सतर्क रहने की अपेक्षा है, तथा आगम स्वाध्याय के समय तो सतर्कता बहुत ही काम्य है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है ।

# जैनधर्म और व्यावसायिक पूँजीवाद : वेबर की अनुदृष्टि

श्री कृष्णलाल शर्मा

प्रस्तुत निबन्ध में यह देखने का प्रयास किया गया है कि वेबर की पूँजीवाद के विकास से संबन्धित व्याख्या किस प्रकार संदेहास्पद आधारों पर खड़ी है। वेबर ने भारत में पूँजीवाद के विकास और जैनधर्म के आचारशास्त्र में जो सहसंबन्ध स्थापित किया है उस पर यहाँ एक निष्पक्ष दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है। यद्यपि कुर्ट स्मेलशन आदि समाजशास्त्रियों ने वेबर के सिद्धान्त— 'प्रोटेस्टेन्ट आचार और पूँजीवाद की आत्मा' की बुनियादी प्रत्यालोचना की है, परन्तु हमारा उद्देश्य वेबर के उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन या मण्डन करना नहीं है। हमारा उद्देश्य केवल यह स्पष्ट कर देना है कि वेबर के सिद्धान्त को केवल प्रोटेस्टेन्ट आचार और पूँजीवाद की आत्मा तक की परिसीमित किया जावे अथवा उसका सामान्यीकरण भी किया जा सकता है। जहाँ तक देखने में आया है वेबर के सिद्धान्त का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है।

समाज में आर्थिक व्यवस्था के स्थान और महत्व के संबन्ध में विभिन्न विचारकों ने विभिन्न विचार प्रगट किये हैं। इन सभी विचारों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में विभक्त करके समझा जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वे विचारधाराएँ ली जा सकती हैं जिनके अनुसार आर्थिक क्रियाएँ अपने में स्वतंत्र हैं और वे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को अपने अनुकूल निर्धारित करती हैं तथा दूसरी श्रेणी में वे विचारधाराएँ ली जा सकती हैं जिनके अनुसार आर्थिक क्रियाएँ समाज-व्यवस्था की निर्धारक नहीं हैं और वे धार्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक आचार से नियंत्रित होती हैं। प्रथम विचारधारा का प्रमुख प्रतिनिधि कार्ल मार्क्स को माना जा सकता है और दूसरी विचारधारा का प्रतिनिधि मैक्स वेबर को माना जा सकता है। कार्ल मार्क्स के दृष्टिकोण को एक पक्षीय कहकर प्रायः गैर मार्क्सिय क्षेत्रों में आलोचना का विषय बना दिया गया है, परन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों ही दृष्टिकोण एकपक्षीय हैं।

वेबर के पूर्व जो कार्य इस क्षेत्र में हुआ है उसकी एकपक्षीयता को देखकर वेबर ने आर्थिक क्रियाओं एवं आचारशास्त्र में जो सहसंबन्ध देखने का प्रयास किया है वह समाजशास्त्र के लिये गर्व का विषय है। वेबर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आर्थिक क्रियाओं का स्वरूप धार्मिक या नैतिक आचारशास्त्र के अनुसार होता है। जिस समाज की सामाजिक मान्यताएँ जैसी होती हैं उस समाज की वैसी ही आर्थिक व्यवस्था भी होती है। उसने माना है कि पूंजीवाद अर्थव्यवस्था वहाँ विकसित हुई जहाँ पर प्रोटेस्टेन्ट की मान्यताएँ थीं। अन्यत्र पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था को उतना प्रोत्साहन नहीं मिला।

वेबर का विचार है कि प्रोटेस्टेन्ट आचार में आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहित किया गया है। पूंजीवाद के विकास के लिये वेबर ने विवेकपूर्ण संचय की प्रवृत्ति का होना अनिवार्य माना है। उसने यह भी माना है कि केवल संचय की प्रवृत्ति से ही पूंजीवाद नहीं आता है। पूंजीवाद के लिये यह जरूरी है कि संचित धन से उत्तरोत्तर लाभ उठाने की जिज्ञासा बनी रहे और इस लाभ के लिये शान्तिपूर्ण वैयक्तिक साधनों का होना भी आवश्यक है। लूट या धोखे में पूंजीवाद नहीं आ सकता है। उसके लिये विवेकीकृत साधन या विवेकीकृत प्राविधिकी का होना आवश्यक है। वेबर ने यह भी माना है कि इसके आय-व्यय विवरण को पारिवारिक आय-व्यय विवरण से अलग एक बही-खाते में रखा जाये ताकि पूर्ण हानि लाभ अवगत होता रहे। यदि वे सब बातें हों तो स्वतः एक पूंजीपति वर्ग और एक श्रमिक वर्ग बनता जाता है और पूंजीपति अपने लाभ के लिये उपनिवेशवाद को जन्म देते हैं जिससे औद्योगिक पूंजीवाद का जन्म होता है।<sup>१</sup>

वेबर ने प्रमाणित किया है कि जैसे-जैसे कैथोलिक मान्यताओं के स्थान पर प्रोटेस्टेन्ट की मान्यताएँ आईं, कालविनवाद तथा जोन वेशले की व्याख्याएँ महत्वपूर्ण होती गईं वैसे ही आचारशास्त्र में परिवर्तन आता गया।

प्रोटेस्टेन्ट आचार के साथ पूंजीवाद का विकास द्रुतगति से बढ़ा। प्रोटेस्टेन्ट आचार और पूंजीवाद में सहसंबन्ध दिखाते हुए वेबर ने कहा है कि प्रोटेस्टेन्ट ने कैथोलिक की अपेक्षा विलासिता में धन और समय की अपव्ययता को समाप्त करने पर अधिक बल दिया जिससे संचय की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी। इसके साथ

<sup>१</sup> प्रोटेस्टेन्ट और पूंजीवाद-मैक्स वेबर, उद्धृत 'थियरीज ऑफ सोसायटी' भाग २, सम्पादित पार्सन्स तथा अन्य, पृष्ठ १२५९-६०।

ही साथ प्रोटेस्टेन्ट ने दो और प्रमुख तत्त्वों पर बल दिया : (१) जो कार्य करो उसे अच्छी प्रकार करो । इससे विवेकीकृत साधनों या विवेकीकृत प्राविधिकी को प्रोत्साहन मिला । (२) जो लाभ प्राप्त करो उसे विलासिता में न खोकर उत्पादन में लगाओ और इससे जो प्राप्त हो उसमें दान दो ताकि यहाँ तथा परलोक में आनन्द मिले । इह तथा परलोक के सुख की भावना से अधिक संचय की प्रवृत्ति बढ़ी । इस प्रवृत्ति वाला वर्ग पूंजीपति वर्ग बनता गया । धीरे-धीरे यह मान्यता आई कि प्राप्त लाभ के असमान वितरण को दैवीय मितव्ययिता मानी जाने लगी । इससे एक श्रमिक वर्ग का जन्म हुआ ।<sup>२</sup>

इस प्रकार जब प्रोटेस्टेन्ट धर्म में भौतिक क्रियाओं को ईश्वरेच्छा बना दिया, जीविका और लाभ के विचार को योगी-जीवन से संबन्धित कर दिया और यह योग मठों की सीमा से दैनिक जीवन में आ गया<sup>३</sup> और सांसारिक नैतिकता पर प्रभुत्व करने लगा तथा प्राप्त लाभ के असमान वितरण को दैवीय मितव्ययिता समझा जाने लगा तब आधुनिक पूंजीवाद को जन्म मिला ।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इतना तो अवश्य माना जा सकता है कि अन्य धर्मों की अपेक्षा प्रोटेस्टेन्ट धर्म भौतिकवाद को अधिक प्रश्रय देता है परन्तु इतना नहीं कि लाभ के असमान वितरण को दैवीय मितव्ययिता मान लें चूँकि यह तत्त्व सामाजिक विषमता की ओर संकेत करता है जो धर्म की दृष्टि से त्याज्य एवं घृणित समझा जाता है । इस दृष्टि से अन्य विचारकों ने भी वेबर की आलोचना यह कहकर की है कि वेबर ने प्रोटेस्टेन्ट धर्म का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वहाँ तक संगत नहीं है और यदि यह बात ठीक है कि प्रोटेस्टेन्ट आचार में असमान वितरण को स्वीकार नहीं किया गया है तब तो प्रोटेस्टेन्ट आचार को उन तत्त्वों में जिन्हें वेबर ने पूंजीवाद के विकास के लिये उत्तरदायी माना है कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो अन्य धर्मों में किसी न किसी रूप में स्वीकार न किया गया हो । सभी बड़े धर्मों ने विलासिता के लिये धन और समय के अपव्यय को अनुचित माना है । सभी ने उचित एवं शान्तिपूर्ण साधनों पर बल दिया है तथा सभी ने कर्तव्यपरायणता पर बल दिया है जिनमें गीता-धर्म अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है । तब तो हिन्दू धर्म में भी यह पूंजीवादी प्रवृत्ति आनी चाहिये थी परन्तु ऐसा है नहीं ।

<sup>२</sup> पूर्व उदघरण, पृष्ठ १२६३ ।

<sup>३</sup> प्रोटेस्टेन्ट आचार और पूंजीवाद की आत्मा, वेबर—पृष्ठ १७२ ।

प्रतीत ऐसा होता है कि जब वेबर ने यह देखा कि जहाँ-जहाँ पूंजीवाद हैं वहाँ-वहाँ प्रोटेस्टेन्ट धर्म है तो उसने इन दोनों में सहसंबन्ध खोजने के लिये कैथोलिक धर्म से उत्पन्न प्युरिटन, प्रोटेस्टेन्ट, कालविनवाद और जोन वेंशले तक की मान्यताओं की व्याख्या करके कालविन और वेंशले की मान्यताओं के साथ पूंजीवाद का सीधा सहसंबन्ध मान लिया और अन्य हिन्दू, बौद्ध, जैन और पारसी धर्मों को असांसारिक मान लिया। यदि बौद्धधर्म के थेरवाद और महायान सम्प्रदाय, जैनधर्म के विगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय और हिन्दूधर्म में वैदिक धर्म, गीता-धर्म, आर्य-समाज तथा ब्रह्म-समाज की मान्यताओं को गहराई से देखा जाय तो वे कालविनवाद से दो पग और आगे हैं। स्वामी दयानन्द ने तो स्वर्ग-नरक को इसी संसार में माना है। अल्प सांसारिक क्रियाओं से उनका कोई विरोध नहीं। तब कोई ऐसा धार्मिक तत्त्व नहीं जो भारत के आर्थिक विकास को रोकता। मोक्ष का मार्ग गीता ने सामाजिक कर्तव्य-पालन को माना है इससे स्पष्ट है कि आचारशास्त्र का और पूंजीवाद का परस्पर कोई सीधा सहसंबन्ध होता तो वहाँ पूंजीवाद नहीं आना चाहिये था जहाँ प्रोटेस्टेन्ट आचार नहीं था परन्तु ऐसा है। इसका अर्थ है कि पूंजीवाद को अन्य तत्त्व प्रभावित करते हैं और वेबर स्वयं इससे परिचित ही था। उसने स्वयं इस बात को माना है कि जहाँ प्रोटेस्टेन्ट धर्म नहीं था वहाँ पूंजीवाद आया है और हम यह निर्णय भी नहीं निकाल सकते हैं कि पूंजीवाद कैथोलिक धर्म के सुधार स्वरूप प्रोटेस्टेन्ट धर्म से प्रभावित हुआ है या पूंजीवाद की आत्मा प्रोटेस्टेन्ट की कृति है<sup>४</sup>। इससे स्पष्ट है कि हम वेबर की कोई आलोचना करने नहीं जा रहे हैं, चूंकि हम जो मन्तव्य स्पष्ट कर रहे हैं वही वस्तुतः वेबर का भी मन्तव्य है। हमारा मन्तव्य तो वेबर के सिद्धान्त के नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों पक्षों को स्पष्टरूप से प्रस्तुत करना है।

उपर्युक्त विवरण से इतना तो स्पष्ट है कि प्रोटेस्टेन्ट आचार और पूंजी-वाद का न तो कोई सहसंबन्ध है और न वेबर इस प्रकार के सहसंबन्ध को स्वीकार करता है परन्तु वेबर इतना अवश्य मानता है कि आर्थिक क्रियाओं को धार्मिक मान्यताएँ अपने सामर्थ्य के अनुकूल अवश्य प्रभावित करती हैं। जिस प्रकार प्रोटेस्टेन्ट के आचारशास्त्र ने वहाँ बढ़ते हुए पूंजीवाद को अपने अनुकूल

<sup>४</sup> पूर्व उद्धरण—पृष्ठ १२५९।

विकसित किया उसी प्रकार अन्य समाजों में भी वहाँ का आचारशास्त्र प्रोत्साहित करता है। इसी दृष्टि से वेबर ने हिन्दू, जैन, तथा बौद्धधर्म का अध्ययन किया।

रोबर्ट कैनेडी ने वेबर के सिद्धान्त को पारसी धर्म पर घटित करके यह सिद्ध किया है कि पारसी धर्म का आचारशास्त्र, पारसी धर्म की आर्थिक क्रियाओं को पूर्णतः प्रभावित करता है<sup>५</sup>। परन्तु जहाँ तक भारतीय धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न है वहाँ यह एक सिद्धान्त घटित नहीं होता है। जैनधर्म हिन्दू तथा बौद्धधर्म की अपेक्षा अधिक योगी है। इसमें धन-संचय को हिन्दू तथा बौद्धधर्म की अपेक्षा अधिक अमान्यता दी गई है। परन्तु फिर भी जैनधर्मानुयायी अपेक्षाकृत अधिक व्यावसायिक हैं। वेबर की दृष्टि के अनुसार जैनधर्म की अपेक्षा हिन्दू या बौद्धधर्म में संचय की प्रवृत्ति अधिक होनी चाहिये परन्तु ऐसा नहीं है। इतना तो वेबर भी स्वीकार करता है कि जैनी लोग अधिक व्यावसायिक हैं<sup>६</sup>। परन्तु इसका कारण तर्कसंगत रूप से प्रस्तुत नहीं कर पाता है।

वेबर का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी भी समाज की अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन कर यह प्रयास करता है कि किस प्रकार उस समाज के आचारशास्त्र की व्याख्या की जाय कि वहाँ की आर्थिक व्यवस्था और आचारशास्त्र में कोई सहसंबन्ध निकल आये। वेबर की यही दृष्टि हमें जैनधर्म संबन्धी उसके अध्ययन में दिखाई देती है।

आंकड़ों के आधार पर वेबर को इतना तो अवगत हो गया था कि जैनी हिन्दुओं या बौद्धों की अपेक्षा अधिक व्यावसायिक हैं। अतः अब वेबर के समक्ष प्रश्न यह था कि जैनधर्म के आचार और उसकी अर्थव्यवस्था में सह-संबन्ध किस प्रकार स्थापित किया जाय। जैनधर्म की अर्थव्यवस्था को अत्यधिक प्रभावित करनेवाली 'अपरिग्रह' अर्थात् असंचय की अवधारणा है। इस अपरिग्रह की अवधारणा की व्याख्या वेबर ने बड़े ही अनूठे ढंग से की है। उसने कहा है कि 'अपरिग्रह' का सकारात्मक पक्ष परिग्रह है जिसका अर्थ है 'धनसंचय'। अतः जैनधर्म में परिग्रह को भी मान्यता दी गई है।

<sup>५</sup> प्रोटेस्टेंट एथिक्स एण्ड पारसी, रोबर्ट कैनेडी रीडिंग आन इकोनामिक्स सोसियोलॉजी, जै० स्मेलशर, में उद्धृत।

<sup>६</sup> रिलिजन आफ इंडिया—वेबर, पृष्ठ २००।

उसी आधार पर वेबर ने जैन तथा प्रोटेस्टेन्ट आचार में समता मानी है और जैन आचार तथा व्यावसायिक पूंजीवाद 'कामसियल कैपिटलिज्म' में सहसंबन्ध स्थापित किया है।<sup>९</sup> उसने यह भी कहा है कि चूँकि जैनधर्म में व्यवसाय को एक भौगोलिक परिधि तक सीमित कर दिया गया है अतः वहाँ औद्योगिक पूंजीवाद का जन्म नहीं हुआ है। इस दृष्टि से वेबर ने जैनधर्म को यहूदी धर्म के साथ रखा है।<sup>१०</sup>

वेबर की व्याख्या तो तर्कसंगत प्रतीत होती है—यदि वेबर की व्याख्या तक ही सीमित रहा जाय। परन्तु यदि जैनधर्म के आचारशास्त्र पर सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होगा कि परिग्रह को जिस रूप में जैनधर्म में प्रतिपादित किया गया है उससे संचय की प्रवृत्ति होनी ही नहीं चाहिये।

आर्थिक क्रियाओं से संबन्धित जैन आचार के दो तत्त्वों को लिया जा सकता है—(१) अस्तेय, (२) अपरिग्रह। जैन आचार में अस्तेय और अपरिग्रह की व्याख्या 'श्रावक-धर्म' अर्थात् गृहस्थ-धर्म के अनुसार भी की गई है। जैन धर्म में श्रावक के तीन स्तर माने गये हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक।

जैन आचार के अनुसार श्रावक को उपर्युक्त तीन स्तरों से गुजर कर कैवल्य की ओर जाना होता है। प्रथम स्तर अर्थात् पाक्षिक स्तर पर श्रावक को धर्मोक्त आठ गुणों, पंच अणुव्रतों का (जिनमें अस्तेय एवं अपरिग्रह भी हैं) अभ्यास करना होता है। द्वितीय नैष्ठिक स्तर पर श्रावकों को ११ प्रतिमाओं का अभ्यास करना होता है। इस तरह उसे सम्यग्दर्शन का लाभ करना होता है। इसको दार्शनिक स्तर भी कहते हैं। तदनन्तर उसे उन पाँच व्रतों को जिनका पाक्षिक स्तर पर अभ्यास किया है अपने जीवन में पूर्णतः अपना लेना होता है। इससे वह सम्यक् चारित्र्य प्राप्त करके जीवन के तृतीय स्तर पर अर्थात् साधक बनकर दीक्षा लेता है। यह उसका व्रतिक स्तर होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि श्रावक को जीवन के प्रथम स्तर पर अपरिग्रह करना चाहिये और द्वितीय स्तर पर पूर्णतः योगी बन जाना चाहिये। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि वेबर की व्याख्या कि जैनधर्म में परिग्रह को भी मान्यता दी गई है और इसी से वहाँ व्यावसायिक पूंजीवाद विकसित हुआ है, गलत है।

<sup>९</sup> रिलिजन आफ इंडिया—वेबर, पृष्ठ २००।

" " " "



पंचव्रतों को पालन करने में भी पंचशील को स्वीकार करना जैनधर्म में आवश्यक समझा गया है। इस पंचशील में आर्थिक क्रियाओं के सन्दर्भ में दिग्ब्रत, देशब्रत, अनर्थदण्ड ब्रत, सामायिक तथा परिभोगोपभोगपरिमाण ब्रत प्रमुख हैं। दिग्ब्रत और दण्डब्रत का अर्थ है कि व्यक्तियों को एक सीमा निश्चित कर लेनी चाहिए कि उसके बाहर वह कोई आना-जाना व्यवहार नहीं करेगा। इस बात को वेबर ने भी स्वीकार किया है और कहा है कि जैनधर्म में औद्योगिक पूंजीवाद इसलिए नहीं आया है कि भौगोलिक परिसीमा के बाहर जाना जैनधर्म में धर्मविरुद्ध समझा जाता है<sup>९</sup>। लेकिन वेबर आगे के शीलों को भुला देता है जिसमें भोगोपभोगपरिमाण और अनर्थदण्डविरति और सामायिक प्रमुख हैं। भोगोपभोगपरिमाण का अर्थ है कि जीवन के परिचालन मात्र के लिए अपेक्षित धन-व्यय की एक सीमा निर्धारित कर यह शपथ ले लें कि उससे अधिक अर्जन नहीं करूँगा। इससे संचय की प्रवृत्ति और उत्तरोत्तर लाभ की भावना जिसे वेबर ने पूंजीवाद के विकास के लिए आवश्यक तत्त्व माना है—समाप्त हो जाती है। इसके साथ अनर्थदण्ड-विरति के अनुसार निरर्थक कार्य करना या लेना अनुचित समझा गया है और अस्तेय के अनुसार लाभ के असमान वितरण को जैनधर्म में चोरी समझा गया है जिसे वेबर ने प्रोटेस्टेन्ट आचार के अनुसार दैवीय भित्तव्ययिता और पूंजीवाद का आवश्यक तत्त्व माना है। यही नहीं जैनधर्मानुयायी अपरिग्रह को पूंजीवाद के ऊपर कच्चे धागे में बँधी हुई तलवार से उपमित करते हैं<sup>१०</sup>।

उपर्युक्त विवरण से जहाँ एक बात यह सिद्ध होती है कि वेबर के सिद्धान्त के अनुसार जैन आर्थिक व्यवस्था में पूंजीवाद भले ही व्यावसायिक हो पर औद्योगिक नहीं आना चाहिए था, और आना ही था तो प्रथम हिन्दू धर्म में इससे अधिक आना चाहिए था, चूँकि वह जैनधर्म की अपेक्षा तपस्वी जीवन पर कम बल देता है, तो दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि वेबर किसी भी आचारशास्त्र को गहराई से नहीं समझ पाया है। और यदि समझा भी है तो उसने आचारशास्त्र के उन तत्त्वों को भुला दिया है जो उसके सिद्धान्त की मान्यता के प्रतिकूल हैं और उनको विस्तृत रूप से लिया है जो अनुकूल हैं। इस तथ्य का स्पष्टीकरण वेबर की जैन आचार की व्यवस्था से स्पष्ट है कि वेबर यह

<sup>९</sup> रिलिजन आफ इंडिया—वेबर, पृष्ठ २००।

<sup>१०</sup> जैनधर्म और सम्पत्ति—खुशाल चन्द्र जैन, वर्णा अभिनन्दन ग्रन्थ,

सिद्ध करने के लिए कि जैनधर्मानुयायियों में व्यावसायिक पूंजीवाद है और औद्योगिक पूंजीवाद नहीं है, कुछ अनुकूल तत्त्वों को स्वीकार कर लेता है और उन मूल तत्त्वों को विस्मृत कर देता है जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के पूर्णतः विपरीत जाते हैं। यदि प्रोटेस्टेन्ट आचार की व्याख्या करने में भी वेबर की यही एकपक्षीय दृष्टि रही होगी तो निःसन्देह उसका निर्णय अनुचित है। लेकिन यहाँ इससे हमारा कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है कि उसने प्रोटेस्टेन्ट आचार की व्याख्या उचित की है अथवा अनुचित। हमारा तात्पर्य केवल इससे है कि वेबर का यह प्रत्यय कि धार्मिक आचारशास्त्र के अनुकूल ही अर्थव्यवस्था भी बनती-बदलती है ध्रुवसत्य नहीं है। उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यत्किञ्चित् प्रभाव हो सकता है परन्तु उसे शक्तिशाली तत्त्व नहीं माना जा सकता है। फलतः वेबर के उपर्युक्त सिद्धान्त का सामान्यीकरण करने से कार्ल-माक्स की भाँति वेबर को भी एकपक्षीयता के दोष का आवरण देना है, अतः आवश्यकता इस बात की है कि वेबर के सिद्धान्त को सार्वभौम मानने से पूर्व अन्धानुकरण की प्रवृत्ति को छोड़कर उसके सिद्धान्त का गहराई से अनुशीलन करना अपेक्षित समझा जाना चाहिये।

[ पृष्ठ ८९ का शेष ]

प्रस्तुत पुस्तक में वीरवाल जाति का सहेतुक इतिहास और इस समाज के निर्माता पं० रत्न श्री समीरमुनि जी का परिचय है। मुनिजी का वरद हाथ तो है ही, यदि समाज के, देश तथा धर्म के-हितचिंतक सेठ-साहूकारों का आर्थिक योगदान भी समयानुसार मिलता रहा तो यह वीरवाल समाज एक समुदाय की ही निधि न होकर सबका आदर्शकेन्द्र बनेगा ऐसी आशा है।

—कपिलदेव गिरि

## साहित्य-स्वीकार

उत्तराध्ययन सूत्र के दस अध्ययन

सम्पादक एवं अनुवादक—मुनि त्रिलोक; प्रकाशक—पूज्य आत्माराम शोध संस्थान, होशियारपुर; मूल्य रु० २-२५.

## अहिंसा : एक विश्लेषण

श्री बशिष्ठ नारायण सिन्हा

धर्मशास्त्र या आचारशास्त्र में अहिंसा का स्थान बहुत ही ऊँचा है। जैनधर्म का तो यह प्राण है। व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से 'अहिंसा', 'हिंसा' का विपरीतार्थक शब्द है जो 'हिंस्' धातु से बनता है जिसका अर्थ होता है—कष्ट पहुँचाना, मारना आदि। किन्तु मात्र कष्ट पहुँचाना अथवा मारना को ही क्या हिंसा की संज्ञा दी जा सकती है? कदापि नहीं। जानवर आपस में एक-दूसरे को तथा मानवों को कष्ट पहुँचाते हैं, कभी-कभी जान से भी मार डालते हैं। इसी तरह मानव भी आपस में एक-दूसरे को तथा जानवरों को कष्ट पहुँचाते हैं और मार भी डालते हैं। लेकिन ये सभी हिंसा के अन्तर्गत नहीं आते। किसी भी क्रिया को हिंसा अथवा अहिंसा के क्षेत्र में तभी स्थान मिल सकता है जब वह नैतिकता अथवा धार्मिकता की कसौटी पर कसी जाये और यह कसौटी सिर्फ मानवकृत कर्मों पर ही लागू हो सकती है क्योंकि हिंसा एक नैतिक दोष है और अहिंसा एक नैतिक गुण और इस दोष-गुण का विचार मनुष्यों के द्वारा हो सकता है, पशु-पक्षियों के द्वारा नहीं। फिर भी हिंसा अथवा अहिंसा का क्षेत्र बहुत विस्तृत एवं व्यापक है। क्योंकि सिर्फ क्रिया या कर्म रूप में कष्ट पहुँचाना ही हिंसा हो ऐसी बात नहीं, बल्कि कष्ट देने की बात मन में लाना अथवा किसी को कष्ट पहुँचाने के लिए सोचना तथा ऐसा विचार व्यक्त करना या इसका अनुमोदन करना ये सभी हिंसा के क्षेत्र के अन्तर्गत ही आते हैं। अर्थात् मन या वचन या कर्म किसी से भी किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना हिंसा कही जाती है। ठीक इसके विपरीत किसी को भी मन या वचन या कर्म किसी से भी कष्ट न देना ही अहिंसा है।

हिंसा अथवा अहिंसा का सिद्धान्त वहाँ लागू नहीं होता जहाँ यह माना जाता है कि इस जगत् का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, तथा संहार-कर्ता सर्वशक्तिमान् परमपिता परमेश्वर है क्योंकि इस मत के अनुसार जो कुछ भी श्रेय या हेय होता है सब का कर्ता परमेश्वर ही समझा जाता है, जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को उपदेश दिया है। इसके अलावा अहिंसा का सिद्धान्त वहाँ

भी सफल नहीं होता जहाँ यह माना जाता है कि 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म सत्य है और जगत् असत्य । जब यह जगत् ही असत्य है तो इसमें जो भी क्रियाएँ होती हैं सभी असत्य ही होती हैं, अतः हिंसा भी असत्य और अहिंसा भी असत्य । इतना ही नहीं अहिंसा के लिए द्वैत की जरूरत होती है । जहाँ द्वैत नहीं वहाँ हिंसा अथवा अहिंसा भी नहीं । यदि एक ही ब्रह्म सब जगह व्याप्त है और छोटे-बड़े सभी जीव उसी के विभिन्न रूप या अंश हैं तो कौन हिंसा करेगा और किस की हिंसा होगी ?

सामान्यतौर से हिंसा के दो रूप माने जाते हैं : भाव-हिंसा तथा द्रव्य-हिंसा । जब किसी को कष्ट देने का विचार व्यक्ति के मन में आता है यानी वह कष्ट पहुँचाने का संकल्प करता है तो इस संकल्प को ही भाव-हिंसा की संज्ञा दी जाती है । और यदि वह अपने संकल्प को क्रियारूप में परिणत कर देता है यानी किसी को मार डालता है या अन्य प्रकार से दुःखित कर देता है तो यह कष्ट देने की क्रिया द्रव्य-हिंसा कहलाती है । हिन्दू, जैन तथा बौद्ध या जिन किन्हीं धर्मों ने अहिंसा के पथ का प्रदर्शन किया है उनके अनुसार व्यक्ति द्रव्य-हिंसा करे अथवा न करे लेकिन यदि वह भाव-हिंसा कर बैठता है तो वह हिंसा करने का दोषी ठहराया जा सकता है । अतः अहिंसा का सिद्धान्त भाव प्रधान है । कहा गया है कि किसान खेती करते समय अनेक जीवों का संहार कर देता है लेकिन वह हिंसा करने का दोषी नहीं बनता । इससे यह न समझना चाहिये कि किसान के द्वारा हिंसा होती ही नहीं । यदि किसान ऐसा समझता है कि उसके खेती करने के समय कोई जीव-हिंसा नहीं होती तो वह आत्मविरोध करता है क्योंकि यह निश्चित है और किसान जानता भी है कि जीव-हिंसा हुए बिना खेती हो ही नहीं सकती । यदि दूसरे लोग भी समझते हैं कि किसान खेती करने के समय हिंसा नहीं करता तो ऐसा समझना नितान्त गलत होगा । वास्तव में किसान हिंसा नहीं करता ऐसी बात नहीं, हिंसा उससे अवश्य होती है लेकिन उसका उद्देश्य हिंसा करना नहीं बल्कि खेती करना होता है, अतः हिंसा के दोष से वह बंचित हो जाता है या क्षमा पा जाता है । क्योंकि हिंसा अथवा अहिंसा भावप्रधान है ।

जैसा कि हमने इसके पहले 'शान्ति पर्व में अहिंसा' (Concept of Ahimsā in the Śāntiparva) नामक अपने लेख में प्रस्तुत करने की कोशिश की है, हिंसा करने के निम्नलिखित कारण होते हैं—

१. शारीरिक एवं मानसिक पुष्टि के लिये पशु-पक्षियों की हत्या करके उनके मांस को खाद्यान्न के स्थान पर उपयोग करना ।
२. व्यापारिक एवं आर्थिक सम्पन्नता के हेतु पशुओं की हत्या करके उनके चमड़े से जूते, बैग आदि सुखदायी वस्तुओं को बनाना ।
३. विशेष आनन्द के लिये शिकार खेलना तथा मांस को विभिन्न मसालों के साथ तैयार करके खाना ।
४. आत्म-रक्षा, समाज-रक्षा एवं राष्ट्र-रक्षा के लिये विपक्षी मनुष्यों की हत्या करना ।
५. धर्म के दृष्टिकोण से यज्ञ में पशु-बलि करना ।

इन कारणों में सिर्फ चौथा कारण ही ऐसा है जो सही रूप में हिंसा का आधार बन सकता है । यदि अपनी जान, अपना समाज तथा अपना राष्ट्र आपत्तिग्रस्त हो और कोई व्यक्ति ऐसा सोचकर चुपचाप बैठा रहे कि वह अहिंसा-सिद्धान्त का अनुगामी है तो यह निश्चित ही उसकी कायरता होगी । हाँ, इतना अवश्य है कि पहले किसी पर किसी भी रूप में प्रहार न करे लेकिन उसकी ओर से कोई अपराध न होने के बावजूद भी कोई दूसरा उसे सताने की कोशिश कर रहा हो तो उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह अपनी रक्षा करे, भले ही उसे हिंसा ही क्यों न करनी पड़े ।

किन्तु अन्य कारण ऐसे हैं जिनमें कोई दम नहीं दिखता । यज्ञप्रधान धर्म में यह माना गया है कि यज्ञ में पशुओं की बलि देने से धर्म या पुण्य होता है लेकिन यह बहुत ही सीधी बात है कि यदि किसी की जान लेना ही पुण्य हो सकता है तो फिर पाप संज्ञा किस कर्म के निमित्त बनी है । आनन्द के लिए किसी पशु-पक्षी की हत्या की जाये यह तो बिल्कुल ही तथ्यहीन बात है, क्योंकि आनन्द-प्राप्ति के अन्य भी बहुत से साधन हैं, साथ ही उन व्यक्तियों को जो अपने क्षणिक आनन्द के लिए किसी की जान की परवाह नहीं करते, यह सोचना चाहिए कि यदि आनन्द या अन्य किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उन लोगों की जान दूसरे लोगों के द्वारा ले ली जाये तो यह बात कहाँ तक उनके या उनके परिवार के लिये हितकारी अथवा अहितकारी होगी । जहाँ तक आर्थिक सम्पन्नता तथा शारीरिक पुष्टि की बात है इनके लिये पशुओं की हत्या की जाये इससे तो अच्छा है कि मरे हुए पशुओं के चमड़े सामान बनाने के काम में लाये जायें ।

मांस खानेवालों की ओर से मुर्दे के मांस के विषय में यह कहा जा सकता है कि जो पशु स्वाभाविक ढंग से मरते हैं वे या तो किसी रोग से ग्रस्त होकर अथवा वृद्ध होकर मरते हैं और इन दोनों ही हालातों में मरने पर उनके मांस ऐसे नहीं रह जाते जो शरीर के लिये अहानिकारक अथवा पुष्टिकारक हों, अतः उनका न खाना ही श्रेष्ठ है। मांसहारियों की मांसभक्षण की मान्यता कुछ हदतक तभी सही हो सकती है जब पुष्टकर खाद्यान्न प्राप्त करने के कोई साधन न हों। परन्तु खाद्यान्न की जगह पशुओं के मांस खानेवालों (पाश्चात्य देशवासियों) का ऐसा कहना सिर्फ थोथी दलील होगी कि उनके पास खाद्यान्न प्राप्त करने के साधन नहीं हैं अथवा कम हैं। इतना ही नहीं, ऐसा भी कहा जाता है कि पशुओं को यदि मारकर न खाया जाये तो उनकी बढ़ती हुई संख्या आगे चलकर यह समस्या पैदा कर देगी कि उन्हें कहाँ से खाना दिया जाये और कहाँ रखा जाये। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जिन स्थानों पर पशुओं की संख्या काफी बढ़ रही हो उन स्थानों से बढ़े हुए पशुओं को वहाँ भेज दिये जायँ जहाँ पशुओं की संख्या कम है तथा उन्हें खेती आदि कामों में लगाया जा सकता है। या जिस प्रकार मनुष्यों की बढ़ती हुई संख्या को रोकने के लिए परिवार-नियोजन के अन्तर्गत विभिन्न साधनों को काम में लाया जाता है उसी प्रकार पशुओं की संख्या कम करने के लिए दवाओं या अन्य साधनों के प्रयोग होने चाहिये ताकि इनकी पैदाइश ही कम हो। परन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि इस वैज्ञानिक व्यस्तता के युग में किसे इतनी छूट्टी है कि वह धर्म के नाम पर पशुओं की जान-रक्षा की बात को सोचे और उसके निमित्त विभिन्न साधनों को काम में लावे। लेकिन जो जीवन सिर्फ धार्मिक अथवा सिर्फ वैज्ञानिक ही हो वह निश्चित ही एक एकांगी जीवन होगा। किन्तु जीवन का तो सर्वांगीण विकास होना चाहिए और इसके लिए जरूरी है कि धर्म और विज्ञान को दो विपरीत दिशाओं में अग्रसर होने देने के बजाय थोड़ी मोड़ देकर दोनों के बीच समन्वय लाने का प्रयास किया जाये।

इसके अलावा एक और समस्या सामने आती है उन पशुओं के सम्बन्ध में, जो अपने जीवनपर्यन्त किसानों के काम आते हैं और अपनी वृद्धा अवस्था में शक्ति-विहीन हो जाने के कारण अवहेलित होते हैं। उन्हें पूरा खाना नहीं मिलता जिसकी वजह से बाद में वे चलफिर भी नहीं सकते; हिसक पक्षी चोंच मार-मार कर उनके शरीर के खून और मांस को खाते हैं और वे पड़े-पड़े छटपटाते रहते हैं। यहाँ दो बातें हो सकती हैं— उन्हें छटपटाते ही छोड़

दिया जाये, क्योंकि फिर से उन्हें तन्द्रुस्त बना देने की संभावना नहीं रहती अथवा बिजली की सहायता या अन्य किसी उपाय से उनका प्राणान्त करके उन्हें दुःख से छुटकारा दिला दिया जाये, जैसा कि पाश्चात्य विचारकों का मत है। इन दोनों में से दूसरा मत ही सही समझा जाना चाहिये क्योंकि यदि दुःखदर्द से संतप्त पशु को मारकर उसे दुःख से छुटकारा दिला दिया जाता है (क्योंकि दुःख दूर करने का अन्य कोई साधन नहीं है) तो ऐसी क्रिया को अहिंसा कहा जाना चाहिये, हिंसा नहीं। क्योंकि यहाँ पर उद्देश्य है पशु को दुःख से मुक्त करना, उसे मारना नहीं। लेकिन कुछ लोगों का कथन है कि यदि कष्ट-निवारण के लिए किसी पशु को जान से मारा जा सकता है तो कोई व्यक्ति अपने माँ-बाप को भी वृद्धावस्था के कष्ट से मुक्त करने के लिए क्यों न मार डाले। किसी व्यक्ति के जो व्यवहार पशुओं के साथ होते हैं वही व्यवहार माँ-बाप के साथ नहीं होते। अतः एक पशु की तुलना माँ-बाप के साथ नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, भले ही, कोई व्यक्ति अपने माँ-बाप को कष्ट से छुटकारा दिलाने के लिये उन्हें मार न डाले लेकिन जब वह देखता है कि उसके माँ-बाप वृद्धावस्था एवं बीमारी के कारण साल-दो साल से कष्ट पा रहे हैं, बिछावन पर ही पाखाना-पेशाब कर रहे हैं तो वह सोचता है और कहता भी है कि अच्छा होता इनका शरीर छूट जाता या इनका प्राणान्त हो जाता जिससे ये कष्ट से मुक्त हो जाते। अतः द्रव्यात्मक रूप में भले ही वह अपने माँ-बाप को नहीं मारता किन्तु भावात्मक रूप में तो वह मार ही डालता है। लेकिन वास्तव में पुत्र का उद्देश्य माँ-बाप को मारने का नहीं होता बल्कि उन्हें दुःख से मुक्ति दिलाने का होता है और इस प्रकार का विचार समाज में निन्दा की दृष्टि से नहीं देखा जाता।

इस प्रकार यह आवश्यक है कि अहिंसा के सिद्धान्त को धर्मान्धता से ऊपर उठाया जाये, साथ ही आर्थिक या वैज्ञानिक सिद्धान्तों को भी अपने स्थान पर स्तम्भ की भाँति अचल बनाये हुए न रखा जाये ताकि धर्म और विज्ञान की समन्वयात्मक सहायता से समाज का पूर्ण कल्याण हो।

# क्या श्री लोंकाशाह विद्वान् नहीं थे ?

श्री नंदलाल मारू

सितंबर १९६६ के 'भ्रमण' में श्री कस्तूरमलजी बांठिया का 'श्वेतांबर जैनों की पूजा-विधियों का इतिहास' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने लिखा है कि

'इस विरोध का सेहरा लोंकाशाह के सिर पर बँधा हालाँ कि वे कोई प्रसिद्ध वक्ता और कोई नामांकित विद्वान् नहीं थे। उपलब्ध प्रमाणों से तो यही सिद्ध होता है कि वे शास्त्र-लेखक-व्यवसायी मात्र थे।'

मूर्तिपूजक संप्रदाय श्री लोंकाशाह को केवल शास्त्र की नकल करनेवाला लहिया मानता रहा है और उसी धारणा को आधार मानकर लेखक ने उपरोक्त विधान किया है ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने कोई ऐतिहासिक आधार नहीं दिया है। अगर श्री लोंकाशाह विद्वान् नहीं होते तो शास्त्र का अर्थ कैसे समझ सकते और उनकी एक प्रति अपने लिये वे अलग से क्यों लिखते ? साथ ही शास्त्रों का सही अर्थ करने पर जो उनके विचारों में परिवर्तन हुआ उसका प्रचार करने में वे सक्षम कैसे होते ? यह एक ऐसी बात है जो किसी भी व्यक्ति के सहज ध्यान में आ सकती है। वे विद्वान् होने के साथ-साथ गहरे चिंतक भी थे। उनकी तत्त्वचिंतन की लालसा ने ही उन्हें शास्त्रों के गंभीर अध्ययन के लिये प्रेरित किया था। उन्हें जो तत्त्व-बोध हुआ उसका प्रचार करने की भावना उनमें जागृत होना स्वाभाविक ही था। प्रचार व्याख्यानों द्वारा ही होता है जैसी कि परंपरा आज भी जैन साधुओं में प्रचलित है। प्रचारार्थ उन्होंने भ्रमण भी किया है और वे दिल्ली तक इस उद्देश्य से गए थे। वहाँ से लौटते समय वे अलवर भी गए थे जहाँ उनका देहान्त हुआ था। ऐसी हालत में उन्हें वक्ता नहीं मानना कहाँ तक उचित है ? लेखक के अनुसार वे प्रसिद्ध वक्ता न भी हों तो भी वक्ता होने में शंका की किञ्चित् भी गुंजाइश नहीं दिखाई देती है।

इस संदर्भ में 'गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति-ग्रंथ' में प्रकाशित पं० दलसुख मालवणिया के लेख 'लोंकाशाह और उनकी विचारधारा' के कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं जो इस संबंध में विशेष प्रकाश डालते हैं :—



‘लोंकाशाह लिपिक थे, अनेक शास्त्र उन्होंने अपने हाथ से लिखे थे और साथ में तीव्र जिज्ञासा-वृत्ति होने के कारण उन्हें शास्त्र-ज्ञान भी था ही । (पृष्ठ ३६६) ।

मूर्तिपूजक परंपरा की ओर से लोंकाशाह पर सबसे बड़ा आक्षेप यह था कि वह तो केवल एक लिपिक था अर्थात् लहिया था — शास्त्र लिख कर अपना निर्वाह करने वाला था । परन्तु “लुंकाना सहिया ५८ बोल” और “लुंकानी हुंडी ३३ बोल” के अध्ययन से उक्त आक्षेप असत्य प्रमाणित हो जाता है । साधारण लहिया शास्त्र-ज्ञान की इतनी गहराई में कैसे पहुँच सकता है ? अतः लोंकाशाह को शास्त्रज्ञान नहीं था यह आक्षेप कथमपि उचित नहीं है । क्योंकि पूर्वोक्त ५८ बोल और ३३ बोल में आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, दशाश्रुतस्कंध, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, राजप्रश्नीय, अनुयोगद्वार, नंदीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथांग की टीका, उत्तराध्ययन, औपपातिकसूत्र, जीवाभिगम, उपासकदशा, प्रश्नव्याकरण, दशवैकालिकसूत्र, प्रज्ञापना, आचारांगनिर्युक्ति और आचारांगवृत्ति, विपाक, उत्तराध्ययनचूर्ण तथा वृत्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पवृत्ति तथा चूर्ण और निशीथचूर्ण आदि में से अनेक पाठों का अवतरण करके विस्तृत चर्चा की गई है । इस पर से भलीभाँति ज्ञात हो सकता है कि लोंकाशाह केवल लिपिक ही नहीं थे, उन्हें शास्त्रों का विस्तृत ज्ञान था । सामान्य लहिया इतनी चर्चा कैसे करेगा ?’ (पृष्ठ ३७२) ।

ऊपर संदर्भित स्मृतिग्रंथ में ‘नागौरी लोंकागच्छ’ लेख में पं० विजय मुनि शास्त्री ने लिखा है कि “लोंकाशाह आरंभ से ही तत्त्वशोधक और सत्यप्रेमी थे । सत्साहित्य के अध्ययन की उनमें बहुत तीव्र अभिरुचि थी । बुद्धि और प्रतिभा प्रखर होने से जैनागमों का मूल रहस्य समझने में आपको कुछ भी देर न लगी” (पृष्ठ ३०) ।

ये उद्धरण प्रमाणित करते हैं कि श्री लोंकाशाह विद्वान् थे इसमें बिलकुल शंका नहीं है । यदि ऐसे व्यक्ति शास्त्रज्ञ, तत्त्वज्ञ और चिंतक विद्वान् की श्रेणी में नहीं आ सकते हैं तो और किसे विद्वान् कहा जा सकता है ? श्री लोंकाशाह शास्त्र-लेखक-व्यवसायी तो थे ही साथ ही वे विद्वान् और वक्ता भी थे यह निर्विवाद है । यदि वे केवल लिपिक ही होते तो आज चार शताब्दियों के उपरांत तक उनका नाम नहीं चलता । इससे साबित होता है कि वे शास्त्रज्ञ विद्वान् थे और स्थानकवासी संप्रदाय उन्हें अपना प्रवर्तक मानता है । ●

# अपनी बात



## पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसीस्थित पार्श्वनाथ विद्याश्रम देश का प्रथम एवं अपने ढंग का एक ही जैन शोध-संस्थान है। यह गत २९ वर्षों से जैनविद्या की निरन्तर सेवा करता आ रहा है। इसके तत्त्वावधान में अनेक छात्रों ने जैन विषयों का अध्ययन किया है व यूनिवर्सिटी से विविध उपाधियाँ प्राप्त की हैं। बी० ए०, एम० ए०, शास्त्री, आचार्य आदि के अतिरिक्त अब तक १५ विद्वानों ने पी-एच० डी० एवं डी० लिट्० के लिए प्रयत्न किया है जिनमें से अधिकांश को सफलता प्राप्त हुई है। वर्तमान में इस संस्थान में ५ रिसर्च स्कॉलर पी-एच० डी० के लिए प्रबन्ध लिखने में संलग्न हैं। प्रत्येक स्कॉलर को २००) रु० मासिक छात्रवृत्ति दी जाती है।

### स्थापना :

पार्श्वनाथ विद्याश्रम की स्थापना सन् १९३७ में हुई। इसका संचालन अमृतसरस्थित सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति द्वारा होता है। यह समिति एक्ट २१, सन् १८६० के अनुसार रजिस्टर्ड है तथा इसे इन्कमटेक्स एक्ट, सन् १९६१ के सेक्शन ८८ व १०० के अनुसार आयकर-मुक्ति-प्रमाणपत्र प्राप्त है। समिति ने अब तक पार्श्वनाथ विद्याश्रम के निमित्त लगभग साढ़े छः लाख रुपये खर्च कर दिये हैं। संस्थान का निजी विशाल भवन है जिसमें पुस्तकालय, कार्यालय आदि हैं। डाइरेक्टर एवं अन्य कर्मचारियों तथा छात्रों के निवास के लिए उपयुक्त आवास हैं। रिसर्च स्कॉलरों के लिए आधुनिक छात्रावास का निर्माण हो रहा है जिसमें एक लाख रुपये खर्च होंगे। इस छात्रावास का पीठिका तक निर्माण हो चुका है। कुछ समय के लिए अध्ययन करने के निमित्त बाहर से आनेवाले स्कॉलरों, विद्वानों एवं साधु-साधवियों के लिए अतिथिगृह के निर्माण का कार्य भी निकट भविष्य में प्रारंभ होने की सम्भावना है।

विद्याश्रम के अन्तर्गत वाराणसी में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ चल रही हैं :—

## शोधकार्य :

संस्थान की स्थापना के समय से लेकर अब तक निम्नलिखित विद्वानों ने विद्याभ्रम में रह कर पी-एच० डी०, डी० लिट्० आदि के लिए अध्ययन किया है :—

१. श्री रत्नचन्द्र जैन, २. डा० नथमल टाटिया, ३. डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, ४. डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, ५. डा० मोहनलाल मेहता, ६. डा० देवेन्द्रकुमार जैन, ७. डा० गोकुलचन्द्र जैन, ८. प्रो० विमलदास जैन, ९. प्रो० भोगीलाल पटेल, १०. प्रो० पृथ्वीराज जैन, ११. डा० कोमलचन्द्र जैन, १२. प्रो० संकटा प्रसाद, १३. श्री सुदर्शनलाल जैन ।

पं० महेन्द्रकुमार जैन ने अपना जैन-दर्शन ग्रंथ यहीं रहकर लिखा ।

वर्तमान में निम्नोक्त पाँच रिसर्च-स्कॉलर पी-एच० डी० के लिए शोधकार्य कर रहे हैं तथा एक छात्र एम० ए० में अध्ययन कर रहा है :—

१. डा० कोमलचन्द्र जैन—जैन व बौद्ध आगमों में नारी-जीवन (प्रबन्ध की पुनरावृत्ति कर रहे हैं) ।
२. श्री बशिष्ठ नारायण सिन्हा—जैनधर्म में अहिंसा-विचार ।
३. कु० मधु नारंग—A Cultural Study of the Nishith Curni.
४. श्री अजित शुकदेव शर्मा—आगम साहित्य में जनाचार ।
५. श्री प्रेमचन्द्र जैन—अपभ्रंश कथा-काव्यों का हिन्दी प्रेमाख्यानकों के शिल्प पर प्रभाव ।
६. श्री राजबंश सिंह—Jainism Group in M. A. Final (Indian Philosophy and Religion)

शोधकार्य, अध्यापन, निर्देशन व साहित्य-निर्माण आदि के सम्यक् संचालन के लिए संस्थान में स्टाफ़ की व्यवस्था इस प्रकार है :—

१. डाइरेक्टर...१...ग्रेड ह० ९००-५०-१५००-६०-१८०० (भत्तों सहित)
२. रिसर्च-ऑफिसर १...ग्रेड ह० ५००-४०-९००-५०-१०५० ( " )
३. रिसर्च-असिस्टेंट...१...ग्रेड ह० २३०-१५-४१०-२०-४५० ( " )
४. क्लर्क...१...ग्रेड ह० १४५-५-१७५-८-२१५-३०-

रो० ८-२७१

( " )

५. लायब्रेरी-असिस्टेंट...१...ग्रेड रु० १२५-३-१४६-४-१७०-  
 ६० रो०-४-१९०-५-१९५ ( " )
६. चतुर्थश्रेणी के कर्मचारी...५...ग्रेड रु० ८५-१-९५-६० रो०-  
 २-१०५ ( " )

इन समस्त कर्मचारियों के लिए प्रोविडेंट फंड आदि की सब सुविधाएँ हिन्दू यूनिवर्सिटी के नियमों के अनुसार ही हैं।

### अध्यापन व निर्देशन :

संस्थान के डाइरेक्टर को एम० ए० की कक्षाओं में जैनविद्या व प्राकृत का अध्यापन करने तथा पी-एच० डी० के स्कॉलरों को इन्हीं विषयों में निर्देशन देने की मान्यता हिन्दू यूनिवर्सिटी से प्राप्त है। वे नियमित रूप से अध्यापन तथा निर्देशन कार्य करते हैं।

### शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय एवं वाचनालय :

इस समय पुस्तकालय में शोधकार्य के लिए अत्यन्त उपयोगी लगभग १०००० चुनी हुई पुस्तकों का दुर्लभ संग्रह है। वाचनालय में ८५ पत्र-पत्रिकाएँ आते हैं। प्रतिवर्ष पुस्तक-संख्या में वृद्धि होती रहती है।

### शोधवृत्तियाँ :

जैन विषय पर पी-एच० डी० के लिए प्रबन्ध लिखनेवालों को २००) रु० मासिक शोध-वृत्ति दी जाती है। शोधवृत्ति का कार्यकाल कम-से-कम २ वर्ष व अधिक-से-अधिक ३ वर्ष का होता है।

### छात्रावास एवं छात्रवृत्तियाँ :

जैन विषय को लेकर शास्त्री, आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी० आदि करनेवाले सुयोग्य विद्यार्थियों को मासिक छात्रवृत्ति के अलावा निवासस्थान आदि की भी सुविधाएँ दी जाती हैं।

### श्रमण :

जैनविद्या का उच्च हिन्दी मासिक लगातार १७ वर्षों से निकल रहा है। पत्र में हर महीने शोधपूर्ण एवं शास्त्रीय सामग्री दी जाती है। विद्वान् एवं

विचारक इस सामग्री को विशेष पसंद करते हैं । लेखकों को उपयुक्त पारि-  
श्रमिक प्रदान किया जाता है ।

### व्याख्यानमाला :

प्रत्येक दूसरे वर्ष किसी उपयोगी जैन विषय पर विशिष्ट विद्वानों के लिखित व्याख्यान हिन्दू यूनिवर्सिटी में कराये जाते हैं, जो कि बाद में पुस्तक-रूप में प्रकाशित कर दिये जाते हैं । व्याख्यानदाता को आने-जाने का प्रथम श्रेणी का किराया एवं एक हजार रुपया नकद पुरस्कार भेंट किया जाता है । श्री हंसराज जैन (श्री रतनचन्द हरजसराय, अमृतसर) ने अपने एकमात्र पुत्र स्व० नरोत्तमलाल की स्मृति में ११,०००) रु० के उदार दान से इस व्याख्यान-माला की योजना की है ।

### प्रकाशन-विभाग :

इस विभाग की ओर से शोध-प्रबन्ध और व्याख्यान आदि प्रकाशित किये जाते हैं । डा० मोहनलाल मेहता का पी-एच० डी० का प्रबन्ध *Jaina Psychology* के नाम से प्रकाशित हो चुका है । डा० गुलाबचन्द्र चौधरी का प्रबन्ध *Political History of Northern India from Jaina Sources* के रूप में प्रकाशित हुआ है । डा० प्रबोध पंडित के व्याख्यान 'प्राकृत भाषा' के नाम से पुस्तकरूप में प्रकाशित हो चुके हैं । डा० गोकुलचन्द्र जैन का शोध-प्रबन्ध 'यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन' प्रेस में है । 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' के प्रथम और द्वितीय भाग छप चुके हैं । डा० मोहनलाल मेहता का 'जैन आचार' भी अभी-अभी प्रकाशित हुआ है । डा० कोमलचन्द्र जैन का शोध-प्रबन्ध शीघ्र ही मुद्रणार्थ प्रेस में जानेवाला है ।



## आचार्य श्री आत्माराम प्रकाशन समिति, लुधियाना के दो प्रकाशन :—

### (१) श्री उपासकदशांगसूत्रम्

अनुवादक—श्री आत्मारामजी महाराज, सम्पादक—डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री,  
प्रथमावृत्ति १९६४, मूल्य लागत मात्र ८) रु० ।

### (२) श्री नन्दीसूत्रम्

व्याख्याकार—श्री आत्मारामजी महाराज, सम्पादक—पं० मुनि श्री फूल  
चन्द जी 'श्रमण', प्रथमावृत्ति १९६६, मूल्य लागत मात्र ६) रु० ।

आचार्य श्री आत्माराम प्रकाशन समिति, लुधियाना से प्रत्येक जैनागम प्रेमी  
सुपरिचित है। उक्त समिति से इसके पूर्व भी कुछ आगम ग्रन्थ निकल चुके  
हैं। उपर्युक्त आगम ग्रन्थ समिति की शास्त्रमाला के सातवें तथा आठवें  
ग्रन्थरत्न हैं।

महाराजजी द्वारा व्याख्यात या अनुवादित अन्य ग्रन्थों की भाँति उक्त  
दोनों ग्रन्थों में भी मूल, संस्कृतच्छाया, शब्दार्थ, भावार्थ एवं टीका के रूप में  
आगमिक सूत्रों की क्रमिक विस्तृत व्याख्या है। भाषा की दृष्टि से भी इनकी  
प्रामाणिकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। तात्पर्य यह कि महाराजजी द्वारा  
व्याख्यात अन्य आगम-ग्रन्थों की भाँति उक्त दोनों ग्रन्थ भी सामान्य एवं विशेष  
रुचि के व्यक्तियों को भाषा एवं भाव की दृष्टि से समान रूप से उपयोगी हैं।  
ग्रन्थ के प्रारम्भ में सम्पादकों द्वारा लिखित भूमिका में आगम साहित्य का  
परिचय भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दोनों ग्रन्थों के अन्त में महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट  
भी उल्लेखनीय हैं। प्रथम ग्रन्थ के परिशिष्ट में उपासकदशाङ्ग के सामान्य  
परिचय के साथ ग्रन्थ में आये भौगोलिक स्थानों, ऐतिहासिक नामों तथा पारि-  
भाषिक शब्दों पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय ग्रन्थ के परिशिष्ट में आधार  
सूत्रपाठों का संग्रह एवं सिद्ध-श्रेणिका-परिकर्म के १४ भेदों की संक्षिप्त व्याख्या  
निहित है।

ग्रन्थों के महत्त्व, उनकी छपाई एवं जिल्द की दृष्टि से मूल्य अधिक नहीं

हैं। समिति की शास्त्रमाला के ये ग्रन्थरत्न पुस्तकालयों, शोधसंस्थानों एवं आगम-जिज्ञासुओं के लिए संग्रहणीय हैं।

### समवायांग (सानुवाद, सपरिशिष्ट)

सम्पादक—मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल', प्रकाशक—आगम अनुयोग प्रकाशन, पोस्ट बॉक्स नं० ११४१, दिल्ली-७, प्रथमावृत्ति १९६६, मूल्य-दो रुपये।

यह ग्रन्थ जैन आगम के अंग साहित्य का चतुर्थ अंग है। यद्यपि अन्य अंग ग्रन्थों की दृष्टि से यह बाद का संकलन है किन्तु महत्त्व की दृष्टि से यह सूत्र भी कम नहीं। बौद्धागमों के अंगुत्तरनिकाय तथा स्थानांग एवं समवायांग सूत्र का तुलनात्मक अध्ययन सदैव उपयोगी रहा है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय संस्कृति के जिज्ञासुओं को इस प्रकार के आगम-ग्रन्थों से भी भारी सामग्री प्राप्त होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में विस्तृत एवं उपयोगी विषय सूची के अनन्तर मूल सूत्र दिए गये हैं। तदनन्तर उनका हिन्दी अनुवाद है। परिशिष्ट में तीन विभाग हैं। पहले विभाग में समवायाङ्ग का अनुयोग-वर्गीकरण, द्वितीय विभाग में समवायांग के सूत्रों की अन्य आगमों में शोध तथा अन्तिम विभाग में समवायाङ्ग-वर्णक हैं।

प्रस्तुत आगम ग्रन्थ के सार को सरलता से समझने के लिए विशेष रूप से शोध-छात्रों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है। ग्रन्थ की छपाई, कागज की दृष्टि से दो रुपया मूल्य नगण्य है। इस प्रकार के सस्ते एवं उपयोगी प्रकाशन के लिए आगम अनुयोग प्रकाशन बधाई का पात्र है।

—कोमलचन्द्र जैन

### अपभ्रंश भाषा और साहित्य

लेखक:—डा० देवेन्द्रकुमार जैन; संपादक एवं नियामक:—लक्ष्मीचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी—५, पृ० ३४७, मूल्य—१०-००।

अपभ्रंश भाषा का प्रयोग पतंजलि के महाभाष्य में उपलब्ध होता है, फिर संस्कृत के समीक्षक दण्डी के साहित्य संदर्भ में, फिर भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख हुआ है। आचार्य हेमचन्द्र तो इस भाषा के नियामक—व्याकरण के नियमों में बांधनेवाले प्रमुख भाषाशास्त्री माने जाते हैं। इन उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि अपभ्रंश भाषा ईस्वी छठी सदी से लेकर

१२वीं तक साहित्यिक भाषा रही है और अपने उद्गम काल में विशेषतः पश्चिम की बोली भी। अतः अपभ्रंश भाषा वह शृंखला है जिसे अपनाये बिना भारतीय आर्य-भाषा और साहित्यों विशेषतः हिन्दी की भगिनी भाषाओं— अवधी, ब्रज, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, मगही आदि क्षेत्रीय भाषाओं और उनके साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन असंभव नहीं तो अधूरा अवश्य रहेगा। यदि राष्ट्रभाषा हिन्दी को वैज्ञानिक और गौरवान्वित साँचे में ढालना है तो संस्कृत, प्राकृत, पालि के साथ अपभ्रंश का अध्ययन भी जागरूक रखना होगा।

प्रस्तुत कृति डा० देवेन्द्रकुमारजी की साहित्यिक साधना की उपज है।

विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अपभ्रंश भाषा और साहित्य की ऐतिहासिक, परिप्रेक्ष्य में समीक्षात्मक विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है—अपभ्रंश भाषा, अपभ्रंश कवि, अपभ्रंश काव्य, अपभ्रंश काव्यों का वस्तु-वर्णन, अपभ्रंश काव्यों की रस-सिद्धि, अपभ्रंश काव्यों में अलंकार-योजना, अपभ्रंश काव्यों की छंद-योजना, अपभ्रंश काव्यों का प्रकृति-चित्रण, अपभ्रंश साहित्य में वर्णित समाज और संस्कृति, अपभ्रंश काव्यों में चर्चित दार्शनिक मत, उपसंहार, प्रकीर्णक—प्रकीर्णक में आख्यायिका, कथा, और चरितकाव्य की परिभाषा, पाशुपतमत, हठयोग, शिव और जिन, संदेश रासक और डा० हजारो प्रसाद द्विवेदी, अपभ्रंश और अवरट्ट भाषा, संदेशरासक और रासो काव्य आदि।

यद्यपि इसमें चुने हुए कवि और उनकी प्रमुख रचनाओं पर विचार हुआ है फिर भी उन्हें बड़े कौशल से सजाकर, सवारकर रखा गया है। इस क्षेत्र के अन्य लेखकों के विचारों का भी समन्वय किया गया है पर जहाँ आलोच्य विषय का तालमेल नहीं बना है वहाँ प्रस्तुत कृति का लेखक अपनी निर्भीक तर्कशैली व ऐतिहासिक मान्यता के बल पर उन संदेहास्पद विचारों का निराकरण करते हुए पाठक को अपने निजी विचारों से पूर्ण परिचय कराता है। इससे लेखक की प्रतिभा और तलस्पर्शी अध्ययन का पता लगता है।

सौभाग्य से डा० हरिबंश कोछड़ की पुस्तक 'अपभ्रंश-साहित्य' हमारे समक्ष है और डा० देवेन्द्रकुमारजी की प्रति भी। अतः कुछ मौलिक बातों की ओर ध्यान दिला देना उचित जान पड़ता है। डा० कोछड़ने अपने 'प्रबंध' में प्रबंध-काव्यों का जो विभाजन किया है, वह डा० जैन की कृति से समर्थनीय नहीं माना जा सकता। पहिली बात यह कि डा० कोछड़ पुराणकाव्य और



चरित-काव्य में भेद नहीं करते, दूसरे कई चरितकाव्यों को उन्होंने खंडकाव्य में गिना दिया है। जैसे, पउमसिरी चरिउ, पास चरिउ, सुकुमाल चरिउ, भविसयत्त चरिउ कीर्तिलता—ये सभी खंड-काव्य में हैं। परन्तु डा० जैन खंडकाव्य के अन्तर्गत मात्र 'संदेश रासक' को प्रमुखता देते हैं और डा० हजारी प्रसाद जी के इस मन्तव्य को कि 'संदेश रासक में 'रासक' यह नाम होने से यह एक गेय काव्य है' श्री जैन निर्भूल साबित कर देते हैं (पृ० १६४)। तीसरे कीर्तिलता और पृथ्वी-राजरासो को जो कि अवहट्ट भाषा की रचनाएँ हैं, अपभ्रंश की सीमा में बाँध देते हैं। यही कारण है कि 'कीर्तिलता' को अपभ्रंश मानकर उसका परिचय (कथा रूप में) श्री कोछड़ ने लिख दिया है (पृ० २५९) पर डा० जैन उसे अवहट्ट भाषा का ग्रंथ मानते हैं तथा अपभ्रंश और अवहट्ट की एकता सिद्ध करने वाले डा० शिवप्रसाद सिंह की भ्रांतियों का भी समुचित निराकरण करते हैं। स्व० डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने कीर्तिलता का सम्पादन किया है और उन्होंने भी कीर्तिलता को अपभ्रंश से अलग 'अवहट्ट भाषा' की श्रेणी में रखा है। चौथी बात यह कि डा० कोछड़ ने अपने प्रबंध में १६वीं सदी तक के अपभ्रंशाभास रचनाओं पर भी विचारा है लेकिन डा० जैन के मत से १२वीं सदी के बाद की अपभ्रंश रचनाएँ, न युग का प्रतिनिधित्व करती हैं न ऐतिहासिक तथ्य को अपनाती हैं। फिर भी डा० कोछड़ की शैली व अन्वेषण की पद्धति का अपना एक अलग मानदंड है।

पुस्तक की सफाई में कमी नहीं है पर छपाई में थोड़ी भूल हुई है। पृ० १५९-१६७ में 'अपभ्रंश काव्य' शीर्षक के स्थान में अपभ्रंश भाषा, और पृ० २९७-३११ में 'उपसंहार और मूल्यांकन' शीर्षक के स्थान पर 'अपभ्रंश काव्यों में चर्चित दार्शनिक मत' शीर्षक छप गया है इसका परिमार्जन होना चाहिए।

आशा है, डा० जैन की इस नवीन रचना से साहित्यिक उद्यान का सौरभ बढ़ेगा। साथ ही इस क्षेत्र म कार्य करने वाले शोधार्थियों का उत्साह बढ़ेगा और उनकी खोज की दिशा को समुचित निर्देश मिलेगा। लेखक, संपादक व प्रकाशक अभिनंदनीय हैं।

### कुछ निबन्ध

लेखक :—अक्षय कुमार जैन; संपादक एवं नियामक :—लक्ष्मीचन्द्र जैन;  
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी-५, मस्य—२-५०।

श्री जैन की प्रस्तुत रचना में सीमित आकार के भीतर छोटी-मोटी घटनाओं का निरूपण एक विशेष निजीपन, स्वच्छता, सजीवता, सौष्ठव तथा सम्बद्धता के साथ किया गया है। जो प्रत्येक पाठक के मन को अनुरंजित करता है साथ ही राजनीति, समाज, इतिहास के सबल और निर्बल पक्ष से भी परिचय बड़ी सरलता से हो जाता है। उदाहरण के तौर पर 'चलो बेटा चलें' शीर्षक में यह व्यंजित हो रहा है कि भारत की आजादी के इतने लम्बे दिन गुजर गए पर सर्वसाधारण वर्ग का जीवन स्तर उठने के बजाय निरन्तर गिरता ही जा रहा है लेकिन सरकारी शान-शौकत व फजूल खर्ची में कोई गिरावट नहीं आई। 'अखबार के शौकीन' में अखबार पढ़ने के शौकीनों का कच्चा चिट्ठा है। 'आजकल हालत बड़ी खस्ता है' में अल्प वेतन भोगी परिवार की रामकहानी है। 'मेड इन इंडिया' में भारतीय जनता में व्याप्त दासता की मनोवृत्ति और फरेबी प्रवृत्ति पर एक मीठी चुटकी है। 'बताइये, विदिशा कहाँ है : अल्जीरिया में या भारत में ?' के अन्तर्गत जनता की सच्ची सेवा के हिमायती सरकारी कर्मचारियों के दिमागी खोखलापन का भंडाफोड़ किया है। 'मुनहरी मसजिद', 'रजिया की कब्र', 'जहाँ से नादिर शाह ने कत्लेयाम का हुकम दिया था' के साथ इतिहास का एक रोचक पृष्ठ जुड़ा हुआ है। लेखक की रचना हिन्दी जगत् में स्वागत के योग्य है। लेखक तथा प्रकाशक दोनों का प्रयास स्तुत्य है।

## विचार-रेखा

संपादक : - श्री गणेश मुनि जी शास्त्री; प्रेरक : - श्री जिनन्द्र मुनि जी;  
प्रकाशक : - अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर (राज०), मूल्य १.५० पैसे।

सभ्य, सुसंस्कृत देश व विदेश के चुने महापुरुषों, मुनियों, राजनीतिज्ञों, सुधारकों तथा साहित्यकारों के विचार-सागर का यह एक अमृतकलश है। महापुरुषों के विचारों का जितना ही प्रचार हो उतना ही अच्छा है पर यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि विचारों को आचरण में स्थान मिलना चाहिए क्योंकि आचार का विचार के साथ और विचार का आचार के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। तभी तो नीतिज्ञों ने क्रियावान् का ही दर्जा सर्वोपरि बताया है (यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्)। इससे व्यक्ति का जीवन क्रूर, निर्दयी, लोभी, अभिमानी और देशद्वीही के बजाय शान्त, संतुष्ट और आनन्दमय बन जाता है अन्यथा विचार-रेखा केवल लकीर बन कर रहेगी।

प्रस्तुत पुस्तक छः अध्यायों में विभक्त वह उद्यान है जिसमें अहिंसा, अस्तेय संतोष, संयम, हर्ष, सुख, क्षमा आदि विविध विचारों के सुमन खिले हैं। आशा है, जीवन में इनकी सुरभि मिलती रहेगी। पुस्तक संग्रह और मनन के लायक है। मुनि जी की इस सुन्दर कृति का सर्वत्र स्वागत हो यही हमारी कामना है। सफाई व छपाई के लिए प्रकाशक बधाई के योग्य हैं।

### धन कमाने की कला

लेखक :—रिषभदास रांका, प्रकाशक:—संस्कार साहित्य-माला, कैलास भवन, बंबई—६०, मूल्य : दो रुपये पचास पैसे।

चतुर्वर्गफल-प्राप्ति में अर्थ—धन का भी महत्वपूर्ण स्थान है। अतः सांसारिक व्यवहार सुचारु रूप से चलाने के लिए इसका संग्रह अनिवार्य है। तभी तो कविने लिखा—“सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते”।

प्रस्तुत पुस्तक श्री रांकाजी की कलम की करामात है, तपे ज्ञान और दीर्घ अनुभव की निचोड़ है, सुख-संपदा का द्वार है, आध्यात्मिक, सामाजिक, व्यावसायिक किंवा आर्थिक जीवन की सिद्धि है, धन कमाने की सच्ची निर्देशिका है। इसमें ऐसे लोगों की रामकहानी दी है जो आर्थिक क्षेत्र में आरंभ में घास-फूस की तरह बढ़े हैं पर गलत रास्ता अपनाने के कारण अन्याय व दुराचार के दलदल में फँस गए हैं, अन्त में करार पर के वृक्ष की तरह भहरा के गिर गए हैं लेकिन उन लोगों के भी उदाहरण इसमें हैं जिन्होंने शिव-संकल्प लिया, रुचि, लगन, धीरता व मितव्ययिता का संबल लेकर बढ़े; डबा नहीं इंजन बने इसीलिए तो अपने साथ हजारों को लेकर वैभव की मंजिल तय की और आनंदमय जीवन व्यतीत किया।

पुस्तक में अठारह स्तंभ हैं जो अपने आप में अठारह पर्व हैं। सचमुच में इसके अनुसार यदि आचरण किया जाय तो जीवन समुन्नत व सुखप्रद होगा। हिन्दी के लिए यह गौरव की बात है। प्रत्येक व्यक्ति की जीवन-यात्रा में यह ‘मील के पत्थर’ का काम करेगी ऐसी आशा है। लेखक व प्रकाशक का प्रयत्न सराहने योग्य है। पुस्तक ईमानदारी से सुखी-समृद्ध जीवन जीने की प्रेरणा देगी।

### वीरवाल-प्रवृत्ति-परिचय

लेखक :—श्री मोहनकुमार पुनमिया ‘साहित्यरत्न’; प्रकाशक:—मंत्री अ० रा० वीरवाल जैन समाज, कांकरोली (राजस्थान)। [ शेष पृष्ठ ७२ पर ]

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५  
हमारे प्रकाशन

1. JAINA PSYCHOLOGY  
By  
Dr. Mohan Lal Mehta  
Price - Rs 8 - 00
2. POLITICAL HISTORY OF NORTHERN  
INDIA FROM JAINA SOURCES  
(7th Century to 13th Century A.D.)  
By  
Dr. Gulab Chandra Choudhary  
Price - Rs 24 - 00
3. STUDIES IN HEMACANDRA'S  
DEŚINĀMAMĀLĀ  
By  
Dr. Harivallabh C. Bhayani  
price-Rs. 3-00
४. प्राकृत भाषा  
लेखक—डा० प्रबोध बेचरदास पंडित  
मूल्य—रु० १-५०
५. जैन आचार  
लेखक—डा० मोहनलाल मेहता  
मूल्य—रु० ५-००
६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग १  
लेखक—पं० बेचरदास दोशी  
मूल्य—रु० १५-००
७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग २  
लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता  
मूल्य—रु० १५-००

# जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी-५

## जैनधर्म की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

- |    |   |       |
|----|---|-------|
| 1  | An Early History of Orissa—Dr. A. C. Mittal   | 21-00 |
| 2  | Studies in Jaina Philosophy—Dr. Nathmal Tatia   | 16-00 |
| 3  | Studies in Jaina Art—Dr. U. P. Shah   | 10-00 |
| 4  | Lord Mahavira—Dr. Bool Chand  | 4-50  |
| 5  | Jaina Monastic Jurisprudence—Dr. S. B. Deo  | 3-00  |
| 6  | Hastinapur—Dr. Amar Chand   | 2-25  |
| 7  | Jainism—Shri J. P. Jain   | 1-50  |
| 8  | Literary Evaluation of Paumacariyam<br>—Dr. K. R. Chandra                                     | 1-50  |
| ९  | जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार—श्री फतहचन्द बेलानी   | १-५०  |
| १० | भारत के प्राचीन जैनतीर्थ—डा० जगदीशचन्द्र जैन  | २-००  |
| ११ | आत्म-मीमांसा—श्री पं० दलसुख मालवणिया  | २-००  |
| १२ | धर्म और समाज—श्री पं० सुखलाल जी   | १-५०  |
| १३ | जीवन में स्याद्वाद—श्री चन्द्रशंकर शुक्ल  | ०-७५  |
| १४ | मगध—श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'  | १-००  |
| १५ | सुवर्णभूमि में कालकाचार्य—डा० उमाकान्त शाह  | १-००  |
| १६ | स्वाध्याय—महात्मा भगवानदीन  | २-००  |
| १७ | अध्यात्म-विचारणा—श्री पं० सुखलाल जी   | २-००  |
| १८ | जैन संस्कृति का हृदय—श्री पं० सुखलालजी  | ०-२५  |
| १९ | जैन अध्ययन की प्रगति—श्री पं० दलसुख मालवणिया  | ०-२५  |
| २० | महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में<br>उसकी देन—डा० भोगीलाल ज० सांडेसरा | ४-००  |

निम्न पुस्तक-विक्रेताओं से भी हमारी पुस्तकें मिल सकती हैं :—

- (१) मेसर्स मोतीलाल बनारसीदास, नेपाली खपड़ा, वाराणसी-१
- (२) सरस्वती पुस्तक भण्डार, हाथीखाना, रतनपोल, अहमदाबाद-१
- (३) गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, गांधी रोड, अहमदाबाद-१

**Sohanlal Jaindharma Pracharak Samiti**

**GURU BAZAR, AMRITSAR**

**OUR IMPORTANT PUBLICATION**

**POLITICAL HISTORY OF  
NORTHERN INDIA**

*from*

**JAIN SOURCES**

**(C. 650 A.D. to 1300 A.D.)**

*by*

**DR. GULAB CHANDRA CHOUDHARY**

**M.A. (Pali & Ancient Indian History & Culture),**

**Ph. D. (B.H.U.).**

**Vyakaranacharya, Pali-Acharya, Nyaya-Kavyatirtha,  
Siddhanta-Shastri, Sahityaratna**

*Professor of Prakrit and Jainology, Research Institute  
of Prakrit, Jainology and Ahimsa  
Muzaffarpur (N. Bihar).*

The present volume is the publication of a thesis by Dr. G. C. Choudhary, the Singhi Research Scholar of the Samiti at the Parshvanath Vidyashram, Banaras Hindu University.

In this thesis approved for the Ph.D. degree of the Banaras Hindu University in 1954, the author has utilised mainly the Jain sources with a view to reconstruct, examine, check up or supplement the political history of the various dynasties from the 7th to 13th century A.D. It is a painstaking study

in which maximum material relating to the subject has been brought together from many a source. The political history of most of the dynasties is already known from other literary and epigraphic sources but in this specialised work it will be seen what light the Jain sources throw on the dynasty as a whole or on the individual rulers, their achievements and principal political events of their reigns.

It is a very interesting and useful piece of historical and literary research. The author has put in good deal of industry and the book is a valuable treatise.

The author's dispassionate endeavour to construct a political history of the different dynasties that ruled in different parts of Northern India is a tribute to his learning. His thesis throws new light on numerous details which have so far remained unnoticed or draped in vagueness by others in the field and furnishes ample material for a harmonious reconstruction of history of Northern India.

Dr. Choudhary has produced a work which could have been made possible only by intensive research and great learning and which should claim the serious and critical attention of all historians in particular and historically minded people in general.

Price:

Rs. 24.00

---

# PARSHVANATH VIDYASHRAM RESEARCH INSTITUTE

## HINDU UNIVERSITY VARANASI—5 OUR NEEDS

1. <i>Establishment</i>	...	Rs. 50,000/-	per year
2. <i>Research Scholarships</i>	...	Rs. 25,000/-	" "
3. <i>Library</i>	...	Rs. 10,000/-	" "
4. <i>Publication</i>	...	Rs. 10,000/-	" "
5. <i>Miscellaneous</i>	...	Rs. 5,000/-	" "
6. <i>Buildings</i>			
(A) Scholars Hostel	...	Rs. 1,00,000/-	
(B) Staff Quarters	...	Rs. 1,00,000/-	
(C) Guest House	...	Rs. 50,000/-	

## YOUR HELP

1. <i>Membership</i>			
(A) Patron	...	Rs. 10,000/-	
(B) Vice-Patron	...	Rs. 5,000/-	
(C) Life Member	...	Rs. 1,000/-	
2. <i>Research Scholarships</i>	...	Rs. 5,000/-	for each scholar after the name of the donor.
3. <i>Library Section</i>	...	Rs. 2,000/-	for each section after the name of the donor.
4. <i>Six volumes of the Comprehensive History of Jain Literature</i>	Rs.	5,000/-	for each volume.
(Donor's photograph may be inserted in the volume according to his wish)			
5. <i>Publication of the theses of Ph.D.</i>	Rs.	5,000/-	for one thesis
(Donor's photograph may be inserted in the volume according to his wish)			
6. <i>Hostel</i>			
For naming the Scholars' Hostel after the donor's name...	Rs.	50,000/-	
For naming a flat after the donor's name	...	Rs. 10,000/-	
7. <i>Guest House</i>			
For naming the Guest House after the name of the donor	...	Rs. 25,000/-	



*for*

**LONGER WRITING**



**USE**



**RATTAN, SAGAR, QUALITY  
REFILLS**



**M/S RATTAN CORPORATION**

**BARAR HOUSE**

**237/243, Abdul Rehman Street**

**BOMBAY—3.**

# CHATONS FOR JEWELLERY

CHATONS PRIVATE LTD.

PARIJAT, 95 MARINE DRIVE

BOMBAY—2.

# लायन

भारत में सबसे ज्यादा  
प्रचलित पेन्सिल !

रत्न, काले और रंगदार  
किंगोवाली  
प्रीमियर  
कारमीरा  
परफेक्ट कॉपिला  
प्राय्सेस लाल व निली  
वेशनल

हमारे देश में आज सबसे  
अधिक मांग "लायन"  
मार्का बढ़िया किस्मकी  
पेंसिलों की ही है।  
बिभिन्न किस्मों और रंगों  
में मिलती हैं। हर एक  
लायन पेंसिल बढ़िया  
सामान और कारीगरी  
का नमूना है।



निश्चय पूर्णक-लायन  
पेन्सिल ही खरीदिये



लायन पेन्सिल्स प्राइवेट लिमिटेड,

२३९, अब्दुल रहमान स्ट्रीट, बम्बई ३.

मोती के समान

चमकदार

बरार लायन

चीनी बटन

- धुलाई से खराब नहीं होते ।
- गर्म प्रेस का कोई असर नहीं होता ।

बनाने वाले :

बरार लायन बटन्स प्रा० लि०

अमृतसर

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान  
वाराणसी-५

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

भाग.....१.....अंग आगम—मू० रु० १५-००

भाग.....२.....अंगबाह्य आगम—मू० रु० १५-००

‘जैन साहित्य का बृहद् इतिहास’ का प्रथम भाग अंग आगम व द्वितीय भाग अंगबाह्य आगम पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। आगे के भाग भी क्रमशः प्रकाशित होंगे। विश्वास है, विशाल जैन साहित्य का सर्वांगपूर्ण परिचय देने वाला प्रस्तुत ग्रन्थराज आधुनिक भारतीय साहित्य में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा। यह ग्रन्थ निम्नलिखित ८ भागों में लगभग ४००० पृष्ठों में पूर्ण होगा :—

प्रथम भाग—अंग आगम

द्वितीय भाग—अंगबाह्य आगम

तृतीय भाग—आगमों का व्याख्यात्मक साहित्य

चतुर्थ भाग—कर्मसाहित्य व आगमिक प्रकरण

पंचम भाग—दार्शनिक व लाक्षणिक साहित्य

षष्ठ भाग—काव्यसाहित्य

सप्तम भाग—अपभ्रंश व लोकभाषाओं में निर्मित साहित्य

अष्टम भाग—अनुक्रमणिका

विभिन्न भागों के लेखन के लिए विशिष्ट विद्वान् संलग्न हैं। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान इस भगीरथ कार्य को प्रामाणिक रूप से यथाशीघ्र सम्पन्न करने के लिए पूर्ण प्रयत्नशील है।

प्रथम भाग के लेखक निर्भीक एवं तटस्थ विचारक पं० बेचरदासजी दोशी हैं। इसकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना निष्पक्ष समीक्षक पं० दलमुखभाई मालवणिया ने लिखी है।

द्वितीय भाग के लेखक यशस्वी विद्वान् डा० जगदीशचन्द्र जैन तथा डा० मोहनलाल मेहता हैं।

इन दोनों भागों के अध्ययन से आप समस्त जैनागमों से सुपरिचित हो जायेंगे।

# पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

## वाराणसी-५

### जैन आचार

लेखक

### डा० मोहनलाल मेहता

एम० ए० (दर्शन व मनोविज्ञान), पी-एच० डी०, शास्त्राचार्य

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा ने सन् १९५९ में लेखक का 'जैन दर्शन' प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ का हिन्दी-जगत् में उल्लेखनीय स्वागत हुआ। राजस्थान सरकार ने एक सहस्र रुपये तथा स्वर्णपत्रक एवं उत्तर-प्रदेश सरकार ने पाँच सौ रुपये प्रदान कर लेखक को पुरस्कृत व सम्मानित किया।

जैन दर्शनशास्त्र पर प्रकाशित उपर्युक्त कृति के समान ही प्रस्तुत ग्रन्थ जैन आचारशास्त्र पर अपने ढंग की एक विशिष्ट कृति है। इसका निर्माण इस ढंग से किया गया है कि भारतीय धर्म व दर्शन का सामान्य परिचय रखनेवाला जिज्ञासु इसे सरलता से समझ सकेगा। विद्यालयों, महाविद्यालयों व विश्व-विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए भी यह उपयोगी सिद्ध होगा।

मूल्य—पाँच रुपये

मोलिङ्ग पाउडर.....प्रेसराइट

बटन.....फूलछाप

टूल्स.....बरार टूल्स

कुछ भी माँगिए

श्रेणी में प्रमुख है

बनाने वाले :—

रतनचन्द हरजसराय (प्लास्टिक्स)

प्रा० लि०

फरीदाबाद

हमारे  
दो उत्कृष्ट उत्पादन  
फूल छाप



बरार बटन  
और  
प्रेसवेयर

PRESWARE

प्लास्टिक क्रोकरी

मजबूत • चमकदार • स्वाद तथा  
गंध से रहित • विभिन्न प्रकार के रंगों में उपलब्ध

बनाने वाले:

रतनचन्द हरजसराय (प्लास्टिक्स) प्रा० लि०  
फरीदाबाद

Edited and Published by Dr. Mohan Lal Mehta,  
Director, P. V. Research Institute, Varanasi-5

Printed at the B.H.U. Press, Varanasi-5